साहित्य धारा

प्रकाशचन्द्र गुप्त

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
बनारस।

प्रकाशक

ओम्प्रकाश बेरी

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

पो० बक्स नं० ७०, ज्ञानवापी,

बनारस।

प्रथम संस्करण—१२००

१९५६

आवरण :

'मधुर'

मुद्रक :

ज्वाला प्रिंटिंग वर्क्स

गायघाट, बनारस।

अनुक्रम

—:o:—

१

साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या

मार्क्सवाद मनुष्य को जीवन, समाज और संस्कृति को समझने की नई दृष्टि प्रदान करता है। संसार और इतिहास को देखने और परखने का मानो यह एक नया अनुवीक्षण यन्त्र ज्ञान ने हमें दिया है। मार्क्सवाद कोई एक विशेष उद्धरण-माला नहीं है, यह सतत विकासमान विचार-दर्शन और वैज्ञानिक दृष्टि है।

मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार जीवन सतत गतिशील और परिवर्तनशील है। मनुष्य बदलते रहते हैं। समाज बदलता है और ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति, साहित्य और कला में भी हम इन परिवर्त्तनों की छाया देखते हैं। गति जीवन का स्वभाव और नियम है। और गतिहीनता मरण का लक्षण है। पुराने समाज नष्ट होते हैं और नए समाज बनते हैं और उनके विचारों और अनुभूतियों को प्रभावित करते हैं, साहित्य और कला में इन परिवर्त्तनों की अभिव्यक्ति होती है। इसी कारण एक युग और काल का साहित्य दूसरे से भिन्न होता है। किंतु उसकी अपनी विशेषताएँ भी होती हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे मनुष्य मात्र में आधार-भूत समानता है, किंतु एक देश और काल का मनुष्य दूसरे देश अथवा काल के मनुष्य से भिन्न भी अवश्य होता है।

मार्क्सवाद के अनुसार भौतिक परिस्थितियाँ मनुष्य के विचारों को गढ़ने और बनाने में निर्णयात्मक प्रभाव डालती हैं, मनुष्य के विचार भी भौतिक परिस्थि-तियों को बदलने में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार जब कोई विचार जनता के मन में घर कर लेते हैं। तब वे एक भौतिक शक्ति बन जाते हैं। भौतिक परिस्थितियों और विचारों का सम्बन्ध नींव और उस पर खड़ी इमारत के समान है। यदि आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध नींव हैं तो ज्ञान, विज्ञान, कानून, दर्शन, साहित्य और कला उस नींव के आधार पर खड़ी इमारत के समान हैं। नींव और इमारत के खण्डों में जितनी ही दूरी बढ़ती जाती है, आधार उतना ही अप्रत्यक्ष और प्रच्छन्न होने लगता है। किन्तु वास्त-विकता यह नहीं होती। कानून, शासन पद्धति आदि में यह प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष

होता है, किन्तु इमारत के अन्तिम खण्डों में, कविता और 'शुद्ध' विज्ञान में प्रच्छन्न होने लगता है। जब समाज में प्रगति की सम्भावनाएँ प्रकट होती हैं, तब विज्ञान में आत्म-विश्वासी प्रवृत्तियाँ व्यक्त होती हैं, तब वैज्ञानिक कहता है कि जीवन का कोई भी क्षेत्र मनुष्य के लिये अविजित नहीं रहेगा। किन्तु जब समाज में प्रगति की सम्भावनाएँ लुप्त हो जाती हैं, तब विज्ञान में भी रहस्यवादी धारणाएँ प्रकट होने लगती हैं। पूँजीवादी समाज के ह्रास काल में 'शुद्ध' विज्ञान भी ऐसी भावनाओं की ओर झुकने लगता है जिसके अनुसार संसार अज्ञेय और अगम है।

साहित्य में युग विशेष प्रतिभावान और अनुभूतिशील व्यक्तियों के विचार और उनकी भावनाएँ प्रकट होती हैं। इन मनीषियों के कोष में अभिव्यक्ति का अनुपम अस्त्र होता है। विकासोन्मुख समाज में कलाकार की प्रतिभा के लिये मुक्त उड़ान सम्भव होती है, किन्तु मरणशील समाज में उसकी प्रतिभा कुण्ठित और विफल होने लगती है। रीतिकालीन हिन्दी कविता में हम प्रतिभा के दुरुपयोग और अस्वस्थ प्रयोग के स्पष्ट उदाहरण पाते हैं। इसी प्रकार हम पूँजीवाद के अस्त-काल में टी० एस० इलियट के समान प्रतिभा-सम्पन्न कवियों को और पिकासो, मातीस, सेजान् अथवा एप्सटाइन के समान कलाकारों को पूर्ण रूप से विकसित होते हुए नहीं देखते।

वर्ग-समाज में ज्ञान, विज्ञान, शिक्षा और संस्कृति पर शासक वर्ग का एकाधिपत्य होता है और किसी भी समाज-व्यवस्था के उदय काल में शासक-वर्ग की आशाएँ, आकांक्षाएँ और उनके स्वप्न संस्कृति और कला में व्यक्त होते हैं, किन्तु ह्रासोन्मुख समाज में बुद्धिजीवी वर्ग का एक अंश शासक वर्ग से टूट कर नवोदित शक्तियों के साथ सम्बन्ध जोड़ता है और साहित्य और कला में उनका स्वर मुखर करता है। इसके अतिरिक्त कला के जन-रूपों में, जैसे जन-गीतों, जन-नाट्य अथवा जन-नृत्यों में शासित वर्गों की भावनाएँ प्रकट होती रहती हैं।

सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति साहित्य और कला में सदा प्रत्यक्ष और प्रकट नहीं होती। सूक्ष्म मानवीय अनुभूतियों और कोमल कल्पनाओं की अभिव्यक्ति कला में होती है, किन्तु इन अनुभूतियों और कोमल कल्पनाओं का सम्बन्ध आर्थिक आधार से अवश्य होता है। कलात्मक अभिव्यक्ति सूक्ष्म, कोमल और संश्लिष्ट होती है; आर्थिक आधार से उसका सम्बन्ध वही होता है, जो फूल का भूमि से। फूल भूमि से उगता है और उसी का अंश और परिष्कृत रूप होता है, यद्यपि वह भूमि से भिन्न प्रतीत होता है।

साहित्य का रूप नए युग और परिस्थितियों में बदलता रहता है। ग्रीक नाटक में मातृहन्ता का विषय बार-बार आता है। ऑरैस्टीज़ (Orestes) में और 'ईडिपस' (Oedipus) में भी। इसका कारण यही है कि ग्रीक समाज अभी मातृ-प्रधान व्यवस्था से निकल कर पितृ-प्रधान व्यवस्था की ओर बढ़ा था। गठन में भी ग्रीक काव्य और नाटक बाद के साहित्य से बहुत भिन्न हैं। जो नियम अरस्तू ने नाटक की सफलता के लिये अनिवार्य बताये थे, उनका त्याग करके ही शेक्सपियर की कल्पना मुक्त उड़ान ले सकी थी। कल के निषेध आज के अपरिहार्य नियम बन जाते हैं। मार्क्स के अनुसार दन्त-कथाओं के युग में देवी और देवताओं की मूर्तियाँ बनाना उसी प्रकार स्वाभाविक था, जैसे आज एञ्जिन ढालना। मार्क्स कहते हैं कि दन्तकथाओं में मनुष्य प्रकृति पर कल्पना के माध्यम से आधिपत्य स्थापित करता है, इस प्रकार ग्रीक कला दन्त-कथाओं के युग में ही सम्भव थी। वे पूछते हैं, "क्या शीशे और बारूद के युग में एकिलीज़ (Achilles) सम्भव है ? 'ईलियड' (Iliad) छापेखाने और भाप की प्रेस के साथ निभ सकता है।" गाना और काव्य-पाठ और इस प्रकार वीर-कथाएँ छपाई के आविष्कार के साथ लुप्त हो जाती हैं[1]।

जिस प्रकार के आधारभूत अन्तर हम ग्रीक नाटक और शेक्सपियर के नाटक में पाते हैं, उसी प्रकार शेक्सपियर के नाटक और आधुनिक नाटक के बीच भी। आधुनिक नाटककार केवल मनुष्य की अनुभूतियों और भावनाओं को ही साहित्य में प्रकट नहीं करता, वह सचेत रूप से सामाजिक समस्याओं पर विचार करता है और उन्हें अपने साहित्य में स्थान देता है। यह नई दृष्टि हम इबसेन, शॉ और गाल्ज़वर्दी आदि के नाटकों में देखते हैं, और डिकिन्स, हार्डी और वैल्स के उपन्यासों में भी। यह सभी साहित्यकार अपने लेखन से समाज में परिवर्त्तन लाने के इच्छुक हैं। वे अन्याय के विरुद्ध हैं और अस्त्र के रूप में अपनी लेखनी का प्रयोग करते हैं।

शेक्सपियर के साहित्य में हम अनेक अन्तर्विरोध पाते हैं। अन्तर्द्वन्द्व और अन्तर्विरोध जीवन की ही प्रक्रिया हैं और इनसे बचना सम्भव नहीं है। बालज़ाक, गर्टा, टॉल्सटॉय, तुलसी और प्रेमचन्द की कला में भी अन्तर्विरोध है, जिनका अध्ययन करके ही हम उन्हें पूर्णरूप से समझ सकते हैं।

शेक्सपियर के नाटक का विषय है : अनजान शक्तियों के चंगुल में फँसा

---

१. Marx "A critique of Political Economy"

हुआ अभी स्वतन्त्रता के लिये संघर्षशील मानव जो अन्ततः अपने भाग्य का विधाता भी है। शेक्सपियर के साहित्य में मरणासन्न अतीत का भी बहुत कुछ रह जाता है, यद्यपि वह आवश्यक रूप से आधुनिक युग की ही देन है। शेक्सपियर के चिन्तन में सामन्ती तत्वों के अवशेष हैं, यद्यपि उनकी दृष्टि अपनी समग्रता में आधुनिक है। हैमलेट का सुप्रसिद्ध वाक्य आधुनिक मनुष्य की वाणी है।

"मनुष्य कितना अद्भुत कार्य-फल है! उसका विवेक कितना उन्नत है! उसकी शक्ति कितनी असीम है! रूप और गति में कितना सुगढ़ और प्रशंसनीय! अपनी सूझ में देव-तुल्य! विश्व का सौन्दर्य्य! जीवों में अपरूप!"

यह यूरोपीय नव-जागरण का उन्नत स्वर है और उस पूरे युग का प्रतिनिधित्व करता है।

साहित्य मनुष्य के जीवन-अनुभव को सुन्दर रूपों में प्रकट करता है और मनुष्य को विश्व और समाज की नई समझ प्रदान करता है। किसी कला-कृति में हम फिर से जीवन-यापन करते हैं और अपनी अनुभूतियों को और स्वभाव को बदलते हैं। इस प्रकार हम जीवन को भी फिर से बदलने की क्षमता प्राप्त करते हैं। सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक सम्बन्ध मनुष्य की चेतना को प्रभावित करते हैं, और नई चेतना प्राप्त करके मनुष्य सामाजिक व्यवस्था को बदलता है। यही प्रक्रिया हम साहित्य और कला में भी देख सकते हैं। आर्थिक और सामाजिक भूमि में ही प्रतिभा के अंकुर फूटते हैं। बढ़कर वे शक्तिशाली तरु बन जाते हैं और परिवर्तन के नये बीज भूमि पर छिटकाते हैं।

उच्चकोटि का साहित्य मनुष्य के विचारों और अनुभूतियों पर निर्णायक प्रभाव डालता है। कुछ हद तक पाठक की संवेदनशीलता पर भी साहित्य का प्रभाव निर्भर होता है। साहित्य मर्म को बेधता है, किन्तु पत्थर को नहीं बेध सकता, यद्यपि दन्तकथाओं में कला पत्थर को भी हिलाने वाली बताई जाती है। उत्कृष्ट कला एक बड़े मानव समूह को दीर्घ काल तक प्रभावित करने की क्षमता रखती है। वे कौन से तत्व हैं, जो कलाकार को यह अनुपम शक्ति प्रदान करते हैं?

कलाकार अपने युग की वास्तविकता को ग्रहण करता है और उसे अपनी कला में व्यक्त करता है। उसकी वाणी में असंख्य पाठक अपनी भावनाओं और विचारों को प्रतिबिम्बित पाते हैं। उसकी रचना में वे अपने जीवन-अनुभव को एक नये रूप में देखते हैं और उससे प्रभावित होकर स्वयं अपने को और जग को बदलने की शक्ति प्राप्त करते हैं।

किस सीमा तक साहित्यिक अपने पाठक को प्रभावित कर सकता है। यह उसकी जीवन-दृष्टि पर तो निर्भर है ही, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति की क्षमता पर भी यह बहुत दूर तक निर्भर है। जो समस्याएँ उसके युग को विकल कर रही हैं, यदि वह स्वयं उनके प्रति निरीह है, तो पाठक के मर्म को छूने में वह सफल नहीं हो सकता। उसकी प्रतिभा का एक आवश्यक तत्व यह है कि जीवन की वास्तविकता को समझने में उसकी दृष्टि अन्तर्वेधी है, उसकी गहरी संवेदनशीलता उसे यह गुण प्रदान करती है। उसकी प्रतिभा का दूसरा पक्ष यह है कि अपने जीवन-अनुभव को व्यक्त करने की वह असामान्य क्षमता रखता है। इसकी कसौटी सामूहिक पाठक के मन पर उसकी रचना का प्रभाव ही हो सकती है।

अभिव्यक्ति के साधनों पर अधिकार प्राप्त करना एक लम्बी प्रक्रिया है। इसके पीछे सम्पूर्ण इतिहास और मानवीय सभ्यता है। मनुष्य ने भाषा पर अधिकार प्राप्त किया, उसे शब्द-समूहों में सँजोना सीखा, उसमें ताल, लय और सङ्गीत का मिश्रण किया, उपमाएँ गढ़ीं। इतिहास की गति ने इन सभी साधनों का विकास और परिष्कार किया है। इस कलात्मक उत्तराधिकार और अनुभव में सदा नई कड़ियाँ जुड़ती रहेंगी।

कला पूरे समाज की सम्पत्ति है। इसका विकास संकुचित वर्गों में इसे सीमित करके नहीं हो सकता। समसामयिक कला में हम एक प्रवृत्ति यह भी देखते हैं कि कविता की भाषा एक गुप्त, सांकेतिक भाषा बनती जा रही है। इसके पीछे यह बुद्धि है कि उत्कृष्ट कला को एक आचार्य और पण्डित-वर्ग ही समझ सकता है। किन्तु इतिहास हमें बताता है कि उत्कृष्ट कला का प्रभाव सदा ही व्यापक रहता है—होमर, वाल्मीकि और तुलसीदास से लगाकर टॉल्सटॉय और प्रेमचन्द तक।

अभिव्यक्ति के साधनों पर कलाकार के अधिकार से तात्पर्य यह है कि उसकी कला एक व्यापक मानव-समूह पर गहरा और स्थायी प्रभाव डाल सके। मुख्यतः यह उसकी जीवन-दृष्टि और संवेदनशीलता पर निर्भर है, किन्तु इसमें भाषा, सङ्गीत, उपमाओं, रूप, रङ्ग आदि का भी कम महत्व नहीं है।

आधुनिक समाज नए कला-रूप गढ़ रहा है जिनके माध्यम से मनुष्य श्रोता अथवा दर्शक वर्ग पर व्यापक प्रभाव डाल सकता है। सिनेमा, रेडियो और 'टेलीविज़न' सामूहिक शिक्षा और मनोरंजन के अभूतपूर्व साधन हैं। इनके मध्यम से पूरे समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत विज्ञान के इन अपूर्व आविष्कारों का प्रयोग लाभ अथवा राजनैतिक स्वार्थ के

लिये शासक वर्ग करता है। समाजवाद के अन्तर्गत इन साधनों का प्रयोग एक सामूहिक संस्कृति के निर्माण के लिये होगा और इस प्रकार कला की दृष्टि से शासक श्रेणी और जनता के बीच की अस्वाभाविक खाई पट सकेगी। इसी प्रकार शिक्षा के प्रसार और सस्ते मुद्रण की सुविधा तथा जन-साधारण के निरन्तर उठते हुये सांस्कृतिक स्तर को ध्यान में रखते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि निकट भविष्य में ही साहित्य और कला भी गोष्ठियों और सङ्कीर्ण गुटों की पूँजी न रहेंगे। जिस प्रकार सामान्य जनता शेक्सपियर, डिकिन्स, तुलसी और प्रेमचन्द को अपने हृदय का हार बनाती रही है, उसी प्रकार वह आज के योग्य साहित्यकारों और कलाकारों को भी प्रेम से अपनायेगी।

—o—

२

साहित्य में सौंदर्य-बोध

साहित्य में सौंदर्य बोध के कोई शाश्वत नियम नहीं होते। यह सौंदर्य-बोध काल और देश की गति और सीमाओं से प्रभावित होता है, उसमें निरन्तर परिवर्तन, विकास अथवा ह्रास होता है; जन-रुचि और साहित्यिक रुचि, जो शिक्षा, वर्ग-भूमिका आदि से बनती और निश्चित होती है, इस सौंदर्य-बोध को दिशा देती है।

सौंदर्य-बोध की व्याख्या आचार्य-गण विविध रूपों में करते हैं। साहित्य में वे रस का गुण पाते हैं, जो अनेक भेदों के अस्तित्व के बाद भी सभी देशों और युगों के साहित्य में उन्हें मिलता है। एक प्रकार से रस को वे साहित्य का ही पर्याय बना देते हैं। उस रस की व्याख्या हम किस प्रकार करें, जो हमें होमर के 'ईलियड', कालिदास के 'शाकुन्तल', पन्त के 'पल्लव' अथवा टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैण्ड' में समान रूप से मिलता है, यह प्रश्न निरन्तर उठता है।

चिरकाल से साहित्य की एक प्रचलित परिभाषा भी चली आ रही है, जो बड़ी हद तक हमें साहित्य की व्यापक व्याख्या प्रदान करती है। साहित्य जीवन का 'अनुकरण' है, उसका 'निरूपण' है, उसकी 'आलोचना' अथवा 'व्याख्या' है। साहित्य हमें जीवन का मर्म समझाने में सहायक होता है। जीवन के प्रति वह सहस्र दृष्टियाँ रख सकता है, उसमें आस्था अथवा अनास्था प्रकट कर सकता है, किन्तु जीवन की अवहेलना करना उसके लिए संभव नहीं। जीवन से पलायन करने की लालसा भी जीवन के प्रति एक मानसिक प्रतिक्रिया है और असंतोष की ही एक विशेष अभिव्यक्ति है।

हम देखते हैं कि सभी युगों के महान साहित्य ने शिष्ट और शिक्षित वर्ग की परिधि को पार करके असंख्य जनता का स्नेह और सम्मान प्राप्त किया है। प्रथम श्रेणी से उतर कर ही उस साहित्य का स्थान है जिसकी प्रशंसा एक सीमित और सुसंस्कृत समुदाय में हुई है। महान कला में एक सहज सरलता रहती है, जो आत्म-तोष के लिए पांडित्य की अपेक्षा नहीं रखती। शेक्सपियर और डिकिन्स,

तुलसी और सूर, टाल्सटाय और गोर्की की रचनाएँ अन्यान्य जनता में फैल जाती हैं; उनका महत्त्व आचार्यों तक ही सीमित नहीं रहता।

इसका कारण यही हो सकता है कि श्रेष्ठ साहित्य में एक मानवीय गुण होता है जो शिक्षा-दीक्षा की सीमाओं को पार करके मानव-मात्र के हृदय को स्पर्श करने का गुण रखता है। इस महान साहित्य से उतर कर दूसरी श्रेणी का साहित्य वह होता है, जो शासक वर्ग की भावनाओं और अनुभूतियों को व्यक्त करता है। हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य इसी प्रकार का साहित्य है।

इस द्वितीय श्रेणी के साहित्य के समर्थक साहित्य में अनेक विचित्र मान्यताओं की स्थापना करने लगते हैं। वे मोहक शब्दावली, संगीत और उपमाओं को ही साहित्य का प्राण-रस समझते हैं। उनके लिए शृंगार रस साहित्य का एक मात्र रस रह जाता है। वसन्त में कोकिल ने अपने प्रिय से कहा, "यह मान का अवसर नहीं है; अपना मान छोड़ो भी"; ऐसी उक्ति से बढ़कर उनके लिए साहित्य में कोई उक्ति नहीं हो सकती। कालिदास की इस उक्ति में गहरी अनुभूति और समवेदना है; किन्तु क्रौंच-वध की प्रचलित कथा में भी करुणा की तीव्रतम अनुभूति है और इसी स्रोत से फूटकर भारतीय महाकाव्य की अनन्य और वेगवती धारा प्रवाहित हुई है।

मानव-जीवन की गहरी अनुभूति से ही साहित्य के पाठक का मन द्रवित, विचलित और व्यथित होता है। यह बात सामान्य पाठक पर लागू होती है। साहित्यिक रुचि देश, काल और वर्ग भूमिका के अनुसार परिवर्तनशील और विकासमान है। मध्यकालीन दरबारी श्रोता अनुप्रासों और अश्लील अभिव्यंजना से प्रभावित होते होंगे। आज ह्रासोन्मुखी पूंजीवादी कला के प्रशंसक अस्वाभाविक भाषा, शब्द-चित्रों और उपमाओं को ही काव्य का प्राण-रस मान बैठे हैं। इस कला का रस-बोध बहुत कम पाठकों को हो पाता है। संकुचित गुटों की प्रेम-भाजन यह कविता बन गई है; आपसी मज़ाकों के समान ही इसके पाठ का बहुत-कुछ अंश एक सीमित वर्ग के लिए होता है।

उदाहरण के लिए रेडियो पर प्रसारित हाल के एक कवि-सम्मेलन को हम लें।

यद्यपि प्रगतिशील कवियों का इस रेडियो सम्मेलन में बहिष्कार था, फिर भी सचेत, सामाजिक भावना रखने वाले कुछ कवि यहाँ आ गए थे। गिरिजाकुमार के गीतों में गहरी मानवीय भावना थी और इसी के कारण उनकी कविता श्रोता का मर्म छू रही थी। 'नीरज' की कविता "अब युद्ध नहीं होगा" इस कवि-

सम्मेलन की सबसे प्रभावशाली रचना थी। कुछ लोग इसे मात्र उच्छ्वास समझ रहे थे, क्योंकि उनकी साहित्यिक रचना थी। कुछ लोग इसे मात्र उच्छ्वास समझ रहे थे, क्योंकि उनकी साहित्यिक रुचि विकृत हो चुकी है। उनके हृदयों को निम्नलिखित पंक्तियाँ भी हिला नहीं सकती थीं:—

मैं सोच रहा—जो फूल रहा खेतों में, उस
बचपन को गोद मिलेगी क्या सगीनों की ?
मिट कर मिट्टी के सर पर जो धर रहा ताज
उस श्रम को उम्र मिलेगी टैंक मशीनों की ?

अथवा

"जो अभी अभी सिन्दूर दिए घर आई है;
जिसके हाथों की मेंहदी अब तक गीली है,
घूंघट के बाहर आ न सकी है अभी लाज,
हल्दी से जिसकी चूनर अब तक पीली है,
क्या वह अपनी लाडली बहन साड़ी उतार,
जाकर बेचेगी निज चूड़ियां बज़ारों में ?
जिसकी छाती से फूटा है मातृत्व अभी,
वह मां क्या दफ़नायेगी दूध मज़ारों में !
क्या गोली की बौछार मिलेगी सावन को,
क्या डालेगा विनाश झूला अमराई में ?"

भाषा-शिल्प, उपमाएँ, संगीत, उक्ति-चमत्कार काव्य के साधन मात्र हैं। वे काव्य के अलंकार हो सकते हैं, साध्य नहीं। उत्कृष्ट कला प्राण-रस मानवीय अनुभूति, गहरी संवेदना, मानव जीवन का मर्मस्पर्शी निरूपण ही हो सकते हैं। ह्रासोन्मुखी पाश्चात्य कला के अन्ध-अनुकरण में अनेक कलाकार प्रतीकों और चित्रों को साहित्य का सर्वस्व समझ रहे हैं। इन चित्रों और प्रतीकों का महत्व तभी हो सकता है, जब इनके पीछे स्वस्थ, मानवीय अनुभूति हो। अस्वस्थ अनुभूति का शृंगार शव को अलंकृत करने के समान है।

यदि हम कला के इतिहास पर एक क्षण विहंगम दृष्टि डालें, तो हम देखेंगे कि कला के रूप-प्रकारों में सतत परिवर्तन होता रहा है और मनुष्य की साहित्यिक रुचि बदलती रही है। सुन्दर क्या है, इसका बोध निरन्तर बदलता और विकसित होता रहा है। इस दीर्घ काल में जो एक ही भावना हम सदा पाते रहे हैं, वह है

मानव जीवन के प्रति गहरी अनुभूति और कला के माध्यम से उसे प्रभावित करने का प्रयास।

आदिम समाज में कला का संबन्ध सीधा सामाजिक जीवन से था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिये कलाकार कला साधन करता था, अथवा वन-पशुओं को वश में करने के लिए वह यथार्थ का अनुकरण करता था। पुराने गुहा-चित्र अधिकतर आखेट के दृश्य प्रस्तुत करते हैं। यह वास्तविकता को प्रभावित करने और दिशा देने के ही प्रयास थे।

कृषि समाज में कलाकार समुचित वर्षा के लिए देवताओं की आराधना करता है, अथवा लहलहाते खेतों के दृश्य नृत्य-कला के माध्यम से प्रस्तुत करता है। समाज वर्गों में बंट जाने के कारण और श्रम-भार दासों द्वारा वहन होने के कारण कला-शिल्प में अधिक शृंगार और परिष्कार संभव हो सका है। पुराने संस्कारों से इस युग की कला स्पष्ट ही बोझिल थी, यह हम उस काल के नाटकों में देख सकते हैं। अनेक यूनानी नाटकों की कथा-वस्तु मातृ-हन्ता के भारी अपराध से दबी रहती है। इसकी आवृत्ति हम परशुराम और यमदग्नि की कथा में भी पाते हैं। मातृत्व-समाज से निकल कर पितृ-प्रधान समाज की ओर अग्रसर होते हुए युग की यह कथा है। आज का पाठक यूनानी नाटकों के इन संघर्षों से द्रवित नहीं होता; वह इन संघर्षों में अपने युग के संघर्षों की वेदना देखता है और उसकी संवेदना से द्रवित होता है।

कृषि-प्रधान समाज में वैज्ञानिक का स्थान याज्ञिक अथवा पुरोहित लेता था। ऐसे काल के साहित्य और कला में अनेक दन्त-कथाओं और देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा स्वाभाविक ही थी। पुराने और नए समाज का संघर्ष हम देवताओं के परस्पर संघर्ष में प्रतिबिम्बित पाते हैं। क्लासिकल महाकाव्यों और नाटकों के कथानक अधिकतर यही हैं।

यूनानी नाटकों से सर्वथा भिन्न शेक्सपियर के नाटक हैं। इन नाटकों में मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता है; प्रकृति की दासता से वह मुक्त हो चुका है। अपनी ही दुर्बलता के कारण उसका पतन होता है। यूनानी आचार्यों की शास्त्रीय स्थापनाओं के अनुसार शेक्सपियर के नाटक उत्कृष्ट नहीं उतरते, ठीक उसी प्रकार जैसे संस्कृत आचार्यों अथवा पं० रामचन्द्र शुक्ल की स्थापनाओं से छायावादी काव्य अथवा प्रेमचन्द का साहित्य ठीक नहीं आंका जा सकता।

नए समाज का साहित्य अपना नया सौंदर्य्य-बोध भी साथ लाता है। यद्यपि साहित्य सदैव ही सामाजिक जीवन को चित्रित करता है, मानवीय अनुभूतियों,

भावनाओं और सम्वेदनाओं को स्वर देता है, संश्लिष्ट यथार्थ को बेहतर समझ पाठक को देता है, फिर भी एक युग का साहित्यिक सौंदर्य-बोध दूसरे युग के साहित्य को समझने में असमर्थ रहता है। हम यूनानी देवताओं का सौंदर्य एक सीमा तक ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि हमारे संस्कार ऐतिहासिक विकास-क्रम की इन मंजिलों से प्रभावित हुए हैं, किन्तु 'स्ट्रीम-लाइन्ड' मोटर अथवा वायुयान का सौंदर्य एपोलो के यूनानी उपासक के लिए सर्वथा विचित्र और अग्राह्य होगा।

भाषा-सौष्ठव, संगीत और ताल-लय की चतुराई, अलंकारों की अभिनव कारीगरी, पच्चीकारी, मीनाकारी-अन्ततः इन पर कला का सौंदर्य निर्भर नहीं होता। श्रेष्ठ कला का निर्णय अन्ततः इस बात पर निर्भर होता है कि कलाकार ने कितनी गहरी जीवन-दृष्टि पाई है।

---o---

३

कलाकार के बंधन

कलाकार के बन्धन अनेक प्रकार के होते हैं। कला के पूर्ण प्रस्फुटन में अनेक सामाजिक परिस्थितियाँ बाधक होती हैं; कलाकार के अपने व्यक्तिगत पूर्व ग्रह और संस्कार उसकी कला के विकास के बंधन बन सकते हैं; इनके अतिरिक्त अभिव्यक्ति के माध्यम सदैव ही कलाकार को चुनौती देते हैं और इन पर अधिकार प्राप्त करने की समस्या भी कलाकार को विकल किया करती है।

कहते हैं Mic ael Angelo संगमरमर के बड़े-बड़े टुकड़ों में मूर्ति की कल्पना करते थे और उसे मानों प्रस्तर-खण्ड से मुक्त करने का प्रयास ही उनकी कला का ध्येय था। इस दृष्टि से कहा जाता है कि कला वस्तु भी एक प्रकार से कलाकार का बंधन है और इस बंधन को खोलकर ही वह अपने ध्येय तक पहुँच सकता है।

कला और कलाकार का यह संघर्ष सदैव ही चलता रहा है और मानवीय कला के विकास की कहानी कला-प्रकारों पर कलाकार के बढ़ते हुए अधिकार की कहानी है।

आधुनिक युग में कलाकार विशेष सामाजिक बंधनों का अनुभव करता है। मध्य युग में कला बहुधा दरबारों में पली थी, इस कारण चाटुकारिता और कामुकता का बाहुल्य उसमें आया। इसके विपरीत जनता के बीच भी कला पली थी, जिसने ऊँची उड़ानें भरीं। इन कलाकारों ने गरीबी को वरदान स्वरूप ग्रहण किया था। आज के समाज में कलाकार और भी अधिक दासता की बेड़ियों में जकड़ा है। वह अनेक प्रकार से बड़े-बड़े धनपतियों की कृपा-कोर का आकांक्षी बनता है। ऐसे कलाकार भी हैं, जो लक्ष्मी की उपेक्षा करते हैं, और विद्रोही कला का वरण करते हैं, किन्तु इसके लिये ऐसा सिद्धान्त भी हम नहीं प्रतिपादित कर सकते कि कला के विकास के लिये गरीबी वांछित है। कुछ पंडित-गण अनेक उदाहरण गिनाकर कहते हैं कि इतने बड़े कवि और कलाकार भूखे

रहे और उन्होंने श्रेष्ठ कला की सृष्टि की। इसका तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि यदि कवि सुख से रहे, तो अच्छी कला का निर्माण नहीं हो सकता। गरीबी और श्रेष्ठ कला में ऐसा कुछ अंतरंग संबंध नहीं है।

आधुनिक समाज में उत्पादनों के साधनों पर पूँजीपतियों का अधिकार रहता है। ऐसे समाज में कलाकार कुण्ठित रहता है और उसका साहित्य कुण्ठाओं का साहित्य ही अक्सर रह जाता है। जिस साहित्य और कला में विद्रोह और असंतोष की अभिव्यञ्जना रहती है, उसके प्रकाशन में अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। हम देख सकते हैं कि हावर्ड फास्ट, पॉल रोबसन और चार्ली चैपलिन के समान विश्व के महान कलाकार दमन और आतंक के शिकार होते हैं, क्योंकि वह अपने स्वर को स्वतंत्रता से व्यक्त करना चाहते हैं। पॉल रोबसन अपना देश छोड़कर कहीं बाहर नहीं जा सकते, चार्ली चैपलिन वापिस नहीं लौट सकते और हावर्ड फास्ट जेल की हवा खाते हैं।

भारतवर्ष के समान अर्द्ध-उपनिवेशों में अभी देशी पूँजी का समुचित विकास नहीं हो पाया है, क्योंकि यहाँ आर्थिक व्यवस्था पर अभी तक विदेशी पूँजी का प्रभुत्व है। इसके अतिरिक्त सामन्ती अवशेष भी सामाजिक पिछड़ेपन के कारण हैं। जब तक भारतीय समाज की उत्पादन शक्तियाँ प्रतिक्रियाशील भूमि सम्बन्धों और औद्योगिक विकास पर बंधनों के कारण जकड़ी हुई हैं, तब तक सांस्कृतिक और कलात्मक सृजन की शक्तियाँ भी पूर्ण रूप से फल-फूल नहीं सकतीं। कला का विकास समाज के चौमुखी विकास के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित है। जो समाज गरीबी के कारण कला का पोषण नहीं कर सकता, वहाँ कला की धारा बहुत उथली और हल्की होकर ही बह सकती है।

भारत में भी हम देखते हैं कि प्रेस पर, समाचार-पत्रों पर, प्रकाशन केन्द्रों पर, बड़ी पूँजी का शिकंजा कसता जा रहा है। कुछ बड़े पूँजीपति समाचार-पत्रों की पूरी श्रृंखला के ही प्रभु हैं। प्रेस-एजेन्सियाँ भी इन्हीं धन-स्वामियों की सम्पत्ति बन गई हैं। इस प्रकार जनवादी विचार-धाराओं के स्वतंत्र प्रवाह में बड़ी-बड़ी रुकावटें हैं। आधुनिक समाज में नागरिक स्वतंत्र विचार करने का भ्रम रख सकता है, लेकिन यथार्थ इसके प्रतिकूल है। प्रेस, रेडियो, सिनेमा आदि अनेक साधनों द्वारा नागरिक के विचारों पर निरन्तर प्रभाव पड़ा करता है। मनुष्य की स्वतन्त्रता सामाजिक व्यवस्था पर अवलंबित होती है। जब वह अपने बंधनों के प्रति सचेत होता है, तभी वह स्वतन्त्रता के पथ पर पहला चरण रखता है।

कलाकार अपनी जीविका और अपनी कला के विकास के लिये बड़े-बड़े भूस्वामियों और पूँजीपतियों के कृपा-कटाक्ष पर निर्भर है। इसका उदाहरण हम एक फिल्म "कल्पना" में देखें। कलाकार एक बड़े मर्म-स्पर्शी फिल्म का 'सेनारियो' बनाता है। वह अपने जीवन संघर्ष की कथा उसमें गूँथता है। बड़े धनपति उसकी कला को खरीद लेना चाहते हैं और उनके उन्मुक्त स्वर को बाँधना चाहते हैं। वह उनके प्रस्ताव को ठुकरा देता है। अपनी कला का वह उच्चतम विकास करता है, लेकिन फिल्म बनाने के साधन उसके पास नहीं हैं। उसका 'सेनारियो' फिल्म-संसार के स्वामी अस्वीकृत करते हैं। कलाकार अपनी इस 'कल्पना' को मूर्त करने में असमर्थ सिर धुनता रह जाता है।

कला-रूपों के माध्यम जितने ही अधिक सामाजिक होते हैं, आज की व्यवस्था में उन पर उतना ही अधिक नियन्त्रण है। आज भारतीय चित्रपट कितने उत्कृष्ट चित्र बना सकता है; हमारे पास साधन हैं, कला है, प्रतिभा है, उच्चतम कला-निर्माण की आकांक्षा है; किन्तु यह सब विफल जाता है।

विदेशों में नाटक पर भी बड़ी पूँजी का ऐसा ही जबर्दस्त शिकंजा है। नाटक के नाम पर वे 'रिव्यू' और 'ऑपेरा' में अर्द्ध-नग्न स्त्रियों का (Parade) करते हैं और स्टेज समुद्र-तट पर धूप खाने वालों का जमघट सा लगता है। शॉ ऐसे प्रतिभाशाली नाटककारों को भी स्वतन्त्र रंगमंच के निर्माण में लगना पड़ा था, तभी उनके नाटक रंगमंच पर आ सके। पश्चिम में बड़े धनपति (Producer) बनने की महत्वाकांक्षा रखते हैं, जब कि न तो उनके पास इसके उपयुक्त प्रतिभा होती है, न कलात्मक रुचि।

भारतीय रंगमंच भी इन्हीं रुकावटों के कारण अब तक नहीं पनप सका है। उसके विकास में सबसे बड़ी बाधा पारसी रंगमंच की पिछड़ी परम्परा रही है। चित्रपट के समान ही रंगमंच को भी धनपतियों ने कमाई का साधन बनाया और उच्चकला के निर्माण की ओर उपेक्षा और उदासीनता दिखाई है। पृथ्वीराज ने अवश्य नाट्य-कला को विकसित करने का प्रयत्न किया है; जो कुछ चित्रपट से वह कमाते हैं, उसे रंगमंच के विकास के हेतु अर्पण करते हैं। पृथ्वीराज उच्चकोटि के अभिनेता और कलाकार हैं, किन्तु नए रंगमंच की नींव डालने में उन्हें हजार बाधाओं का सामना करना पड़ रहा है।

कविता और कथा-साहित्य में कलाकार को अपेक्षाकृत सृजन की स्वतन्त्रता अधिक रहती है, क्योंकि इन कला-रूपों में उत्पादन के साधन सामाजिक नहीं

हैं। फिर भी सामाजिक परिस्थितियाँ कलाकार के चिन्तन को प्रभावित करती हैं। कलाकार के स्वप्न, उसकी आकांक्षाएँ और अभिलाषाएँ सामाजिक परिवेश से प्रभावित होती हैं। वह पक्षियों की भाँति सहज भावना से गा नहीं सकता; पग-पग पर सामाजिक परिस्थितियाँ उसके अभिमान को कुचलती हैं, वह अपने को असहाय, दीन-हीन पाता है। वह कहता है :—

"मैं जीवन में कुछ कर न सका—
मैं ज्वाला लेकर आया था,
मैंने जलकर दी आयु बिता,
पर जगती का तम हर न सका।"

वह अपने को पथ का "ठीकरा" समझता है, जिसे चाहे जो मन-चाहे ठुकरा जाता है! वह अपने हृदय को "खंडित पात्र" समझता है; वह लिखता है:—

"कैसे बुझाऊँ प्यास—मेरा हृदय खंडित पात्र!
मृत्यु से माँगा हलाहल
प्यास से होकर विकल जब,
हँसी श्यामा सुन्दरी वह
भर दिया प्याला लबालब,
लब न छू पाए गरल, यह हृदय खंडित पात्र!
बेबसी की बात है यह
मैं न जीवित ही, न मृत ही,
चाह थी पर जब अमृत की।
था मिला मुझको अमृत भी,
किन्तु खंडित इन्दु-सा यह हृदय खंडित पात्र!"

सामाजिक परिस्थितियाँ निरन्तर कलाकार के मन का बंधन बनती हैं। उसकी कला समाज में अन्धकार, निराशा और विफलता ही देखती है। ऐसे कलाकार भी होते हैं, जो सामाजिक क्रान्ति की शक्तियों को उभरती हुई देख सकते हैं, और अपनी कला में नवजीवन और आशा का स्वर भरने में सफल होते हैं। कलाकार सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है, और फिर बदले में उन्हें प्रभावित भी करता है। सामाजिक परिवेश और कलाकार का यह अटूट और अन्तरंग सम्बन्ध है।

अनेक अन्तर्मुखी प्रवृत्तियाँ भी कलाकार का बंधन बनती हैं। वह रूढ़िवादी विचारधाराओं को अपनी कला के विकास में बन्धन बना सकता है। हिन्दी साहित्य में आज अनेक परलोकमुखी वृत्तियाँ कलाकार की प्रगति का द्वार बन्द किये हुए हैं। पाश्चात्य ह्रासोन्मुखी कला की अनेक शैलियाँ भी भारतीय कला के मार्ग में बाधा बन रही हैं। सामाजिक प्रगति और मानव हित का ध्येय ही कला को अनुपम शक्ति और प्रेरणा दे सकता है। जब-जब इस प्रेरणा से कलाकार ने कला-सृजन किया है, उसकी रचना शक्ति और ओज से ओत-प्रोत हो उठी है। इसके उदाहरण-स्वरूप हम प्रेमचन्द के उपन्यास और पन्त की "युगवाणी" और "ग्राम्या" उद्धृत कर सकते हैं। इसके विपरीत मनोविश्लेषणवाद और रूपवाद कलाकार की कृति को कुण्ठाओं से दबा देते हैं। उसकी प्रेरणा का स्वतन्त्र और सहज प्रवाह इन पाश्चात्य फैशनों के अनुकरण के कारण रुक जाता है। कलाकार अपनी प्रतिभा को असाधारण शब्दावली, उपमाओं और छन्द-ताल-लय की खोज में विफल ही व्यय करता रह जाता है।

यह बन्धन ऐसे हैं, जिन्हें कलाकार स्वेच्छा से ही भ्रमवश अपनी कला की प्रगति पर लगाता है और जिन्हें वह सचेत संघर्ष कर काट भी सकता है। उसकी कला प्रेरणा की अग्नि से ही चमककर निकलेगी; दूर की अस्वाभाविक उपमाएँ और काव्य के नाम पर गद्य-ध्वनियाँ उसकी कला में शक्ति-संचार नहीं कर सकतीं।

इङ्गलैण्ड में नए रूपों और प्रयोगों की खोज में जेम्स जौयस ने गद्य लिखना ही छोड़ दिया; वह स्वप्नों के समान अथवा कालकूट पीने के बाद शिवजी के समान ऊलजलूल भाषा का प्रयोग करने लगा था। फ्रैञ्च चित्रकार गौगाँ दूर पूर्व के आदिमवासियों के चित्र अल्प रेखाओं के माध्यम से अंकित करने लगा था और आदिम कला की ओर लौटने का प्रयत्न करने लगा था। डी० एच० लॉरेन्स भी अपने साहित्य में इसी प्रकार के प्रयोग कर रहा था। अन्य कलाकार अपनी कला से वस्तु-तत्व निकालने का प्रयास करते हैं, मानो अनिर्वचनीय शून्यता को स्वर देना चाहते हों। संगीत में भी पश्चिम के कलाकार इसी प्रकार के प्रयोग कर रहे हैं। जैज संगीत का वर्णन करते हुए गॉल्जवर्दी के "A Modern comedy" का एक प्रमुख पात्र (Michal) कहता है, "यदि हम नाच-घर के फर्श पर मेज-कुर्सी घसीटें, तो भी ऐसे ही संगीत की सृष्टि होगी !"

इसी प्रकार की मानसिक उलझनों में भारतीय कलाकार भी कभी-कभी अपनी कला को बाँधने के प्रयास में तल्लीन दिखाई पड़ते हैं। वह मानो अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति के साधनों को तोड़ने और अपने कला-रूपों को विकृत

और विरूप करने पर कटिबद्ध हैं। ऐसे निरर्थक प्रयोग हिन्दी के भी कुछ प्रयोग-वादी कवि इधर कर रहे हैं।

हिन्दी कथा-साहित्य में कुछ दिनों से एक अत्यन्त चिन्तनीय प्रवृत्ति हम देख रहे हैं। वह है साहित्य के नाम पर नग्न कामुकता का प्रचार। इस प्रकार की रचनाओं की बाजार में आसानी से बिक्री होती है और रुचि-विहीन असंख्य पाठक रेलवे-ट्रेनों और हाट-बाजारों में ऐसे उत्पादन से अपना मनोरञ्जन करते हैं। साहित्य में व्यावसायिकता अब ऐसा रोग बनता जा रहा है, जिसके विरुद्ध कलाकार को सतत और सचेत संघर्ष करना है। देश के बटवारे के बाद इस व्यवसायी साहित्य ने साम्प्रदायिकता की आग में घी के समान काम किया। गांधीजी की मृत्यु के बाद ऐसे ही व्यवसायियों ने झूठा अश्रु-प्रवाह किया और आज उसी श्रेणी के अन्य तथाकथित लेखक साहित्य के नाम पर काम-शास्त्र रच रहे हैं और प्रसारित कर रहे हैं।

४

साहित्य और दलित वर्ग

दलितों के प्रति सहानुभूति साहित्य में एक दम नवीन प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु सचेत और संगठित रूप से इस सहानुभूति की अभिव्यक्ति निश्चय ही एक नवीन प्रवृत्ति है। यह भी सच है कि पुराने युगों के कलाकार जीवन के मोहक रूप में अधिक रोचकता रखते थे, शृंगार की कथाओं में, सामन्तों के संघर्षों में, अथवा इस धुरी के दूसरे छोर—भक्ति, योग और वैराग्य के वर्णन में। साहित्य बहुत अधिक हद तक शासकवर्ग की भावनाओं और विचारों का चित्रण करता था और उसी वर्ग की कृपा पर उसका जीवन अवलम्बित था। किन्तु साहित्य में करुण रस का उद्रेक निरन्तर हुआ है, और विशेष रूप से हिंदी के सन्त कवियों के काव्य में इसका अतिरेक है। वाल्मीकि के महाकाव्य का आरम्भ ही करुणा के स्रोत से हुआ था।

समाज का एक विराट अंग सदा से दलित और त्रस्त रहा है, इसे अस्वीकार करना असम्भव है। बहुत पुराने आदिम समाज को छोड़कर, जब कि सामूहिक श्रम के फल का समान विभाजन होता था, किन्तु जब उत्पादन के साधन बहुत पिछड़े होने के कारण श्रम का फल भी बहुत सीमित था—इस आदिम समाज को छोड़कर सदा से ही हम सभ्य समाज में एक ओर तो शक्ति-सम्पन्न और समृद्ध एक संकुचित वर्ग और दूसरी ओर असंख्य दलित और त्रस्त मानव-समूह देखते चले आ रहे हैं। उन्नीसवीं सदी में इङ्गलैण्ड के अनुदार दल के नेता डिजरेली ने एक बार कहा था—"इङ्गलैण्ड एक राष्ट्र नहीं, वरन् दो राष्ट्र हैं—अमीर और गरीब।" इसी भावना को हिन्दी के एक आधुनिक कवि नरेन्द्र शर्मा ने अपने एक लोक-गीत में व्यक्त किया था—

"इस दुनिया में दो दुनिया हैं,
जिसके नाम अमीर गरीब।"

इन दोनों दुनियाओं का प्रतिबिम्ब हमें पुराने साहित्य में मिलता है, यद्यपि अमीर जग का अधिक और गरीब जग का कम। और आज का कलाकार

जब दलितों के प्रति साहित्य में अपनी सहानुभूति व्यक्त करता है; वह अपनी पुरानी साहित्यिक परम्परा का एक छोर उठा रहा है, और उसे आगे बढ़ा रहा है।

हिन्दी के सन्त-कवियों का साहित्य दलितों के प्रति तीव्र सहानुभूति से ओत-प्रोत है। 'रामचरितमानस' की पृष्ठभूमि में भारतीय जनता की पीड़ा और रुदन है। कुटिल, क्रूर कलिकाल के दुराचारों के निवारण के लिए तुलसी ने 'मानस' की रचना की थी। अनेक बार कवि ने यह दुहराया है:—

"राम-कथा कलि कामद गाई
सुजन सजीवन-मूरि सुहाई।
सोई वसुधा-तल-सुधा-तरंगिनि
भय-भंजनि भ्रम भेक-भुअंगिनि।
बुध-बिसराम सकल जन रंजनि
राम-कथा कलि-कलुष-विभंजनि।"

'निराला' जी ने भी अपनी पुस्तक 'तुलसीदास' में 'मानस' के इस तत्त्व को स्वीकार किया है:—

"हो रहे आज जो खिन्न-खिन्न
छुट-छुट कर दल से भिन्न-भिन्न
यह अकल-कला गह छिन्न, जोड़ेगी
रवि-कर ज्यों बिंदु-बिंदु जीवन
संचित कर करता है वर्षण,
लहरा भाव पादप, मर्षण मन मोड़ेगी।"

कबीर की वाणी में हम विषम सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीव्रतम विद्रोह पाते हैं। जो कुछ समाज में पाखण्ड और अनाचार है, उसके विरोध में कबीर अपना स्वर उठाते हैं:—

"ना जाने तेरा साहिब कैसा।
महजिद भीतर मुल्ला पुकारै,
क्या साहिब तेरा बहिरा है?
चिउँटी के पग नेवर बाजै,
सो भी साहिब सुनता है॥
पंडित होकर आसन मारै,

लम्बी माला जपता है।
अन्तर तेरे कपट कतरनी,
सो भी साहिब लखता है॥
ऊँचा नीचा महल बनाया,
गहरी नेव जमाता है।
चलने को मनसूबा नाहीं,
रहने को मन करता है॥
कौड़ी कौड़ी माया जोड़ी,
गाड़ि जमीं में धरता है।
जेहि लहना है सो ले जैहै,
पापी बहि-बहि मरता है॥

जीवन के प्रति यही सचेत, सामाजिक दृष्टिकोण हमें भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के लेखकों में भी मिलता है। भारतेन्दु युग के लेखकों ने भारत के साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया और वही परम्परा द्विवेदी युग, छायावादी युग और आज के प्रगतिशील, जनवादी साहित्य में निबाही गयी है।

भारतेन्दु ने 'भारत-दुर्दशा' में हमारे देश के अधःपतन का बड़ा मर्म-स्पर्शी चित्र खींचा। उसी प्रकार श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' और अन्य काव्यों में 'प्रसाद' का उपन्यास और कथा-साहित्य भारतीय समाज का करुण रूप दिखलाता है, और उनके काव्य और नाटक-साहित्य में देश और उसकी जनता के प्रति सतत प्रेम व्यक्त हुआ है। हम समझते हैं कि 'चन्द्रगुप्त' में कवि का गीत "अरुण यह मधुमय देश हमारा" हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। इसी परम्परा के 'परिवर्तन' को पन्त, 'तोड़ती पत्थर' अथवा 'भिखारी' के 'निराला', और 'बंग दर्शन' की 'महादेवी' ने विकसित किया।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में नई प्रवृत्ति के रूप में दलितों के प्रति यह सहानुभूति प्रगतिशील लेखकों के साथ सिद्धान्त बनकर आई। सन् १६३६ से यह प्रवृत्ति साहित्य में क्रियाशील है, और आज के साहित्य की एक प्रमुख धारा कही जा सकती है। साहित्य में प्रगतिशीलता अन्तर्राष्ट्रीय विचार-धारा थी। इस साहित्य का आग्रह जीवन के कटु कठोर यथार्थ के चित्रण और अंकन के प्रति था, और यह बहुसंख्यक पीड़ित मानवता को साहित्य में प्रतिष्ठित करने की आकांक्षा रखता था; यह भी सच है कि रूसी क्रान्ति ने इस अन्तर्राष्ट्रीय

विचार-धारा को नयी शक्ति दी। बड़े पैमाने पर किसान और श्रमजीवी वर्गों का साहित्य में चित्रण अब शुरू हुआ। टॉल्सटॉय और गोर्की आदि रूसी लेखकों के साहित्य का अध्ययन और मनन भी इस युग में बड़े परिमाण में हुआ।

इस नई साहित्यिक प्रवृत्ति के प्रवर्तकों में प्रेमचन्द का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रेमचन्द सन् १९०७ से ही उर्दू में कहानियाँ लिख रहे थे; इसके कुछ ही वर्ष बाद उन्होंने हिन्दी में भी लिखना शुरू कर दिया था। प्रेमचन्द ने भारत के दलित और त्रस्त किसानवर्ग का चित्र अपने साहित्य में उतारा। भारतीय ग्राम-जीवन का इतना बड़ा कलाकार दूसरा नहीं हुआ। किस प्रकार किसान का शोषण सामन्ती प्रथा के अन्तर्गत होता है, इसका एक उदाहरण प्रेमचन्द की 'सवा सेर गेहूँ' शीर्षक कहानी है। किसान के घर एक महात्मा आते हैं, वह उन्हें भोजन कराने के लिये विप्र-देवता से सवा सेर गेहूँ उधार लेता है। हर वर्ष की भाँति अगली फसल में वह विप्र-देव को भेंट अर्पण करता है, किन्तु हर बार से अधिक गेहूँ दे देता है, और समझता है कि वह उऋण हो गया। विप्र वर्षों चुप रहते हैं, फिर आसामी को धरते हैं। पुश्त-दर-पुश्त वह उसे गुलाम बना लेते हैं, क्योंकि इतने रुपये वह कैसे अदा करे? कहानी के अन्त में प्रेमचन्द कहते हैं कि यह एक वास्तविक घटना है। प्रेमचन्द ने होरी के समान भारतीय किसान के अमर प्रतिनिधि की सृष्टि की। भारतीय जीवन की इस भूमि को साहित्य में अन्य कोई लेखक इतनी सफलता से पल्लवित और पुष्पित नहीं कर सका।

सन् १९३६ में जब प्रेमचन्द पहले प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के सभापति हुए, उन्होंने दलितों के प्रति सहानुभूति रखनेवाली सचेत वैज्ञानिक विचारधारा से अपना सम्बन्ध जोड़ा, और इसके फलस्वरूप जो 'यूटोपियन' हल हमें उनकी पहली रचनाओं में मिलते थे, वह बन्द हो गये।

प्रेमचन्द के बाद श्री सुमित्रानन्दन पन्त का नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। सामाजिक व्यथा के प्रति पन्त सचेत थे, यह उनकी 'परिवर्तन' आदि कविताओं से विदित था। प्रगतिशील विचारधारा से नाता जोड़ कर पन्तजी ने अधिक वैज्ञानिक दृष्टि विकसित की। उनकी नई रचनाएँ 'रूपाभ' में प्रति मास प्रकाशित हो रही थीं, जिसके सम्पादक स्वयं पन्तजी और नरेन्द्र शर्मा थे। 'रूपाभ' का प्रकाशन हिन्दी पत्रकार—संसार की एक महत्वपूर्ण घटना थी। उस काल का सभी समर्थ साहित्य-कविता, कहानी, आलोचना—'रूपाभ' के पन्नों में प्रकाशित हो रहा था। नरेन्द्र के वेदनामय गीत, श्री भगवतीचरण वर्मा की

'भैंसागाड़ी' और 'कविजी' स्वयं पन्तजी की मार्क्सवाद से प्रभावित कविताएँ, 'निराला' की 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'निशानिमन्त्रण', और 'विपथगा' आदि की प्रभावशाली आलोचनाएँ 'रूपाभ' में निकली थीं।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में पन्तजी की नई कविताएँ संगृहीत हैं। इनमें दलितों के प्रति अनन्य सहानुभूति और करुणा का भाव है। पन्तजी लिखते हैं:–

"यहाँ न पल्लव वन में मर्मर,
यहाँ न मधु विहगों में गुंजन,
जीवन का संगीत बन रहा
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन ! [ग्राम्या १३]

'ग्राम-युवती' का यौवन अकथ परिश्रम और भीषण जीवन-व्यवस्था दो दिन में नष्ट कर देती है—

"रे दो दिन का
उसका यौवन !
सपना दिन का
रहता न स्मरण !
दुःखों से पिस
दुर्दिन में घिस,
जर्जर हो जाता उसका तन !
ढह जाता असमय यौवन धन !
बह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हँस खेला कुछ क्षण !!

जन-जीवन की पीड़ा के प्रति यही सहृदयता और करुणा हम 'निराला' जी के नये काव्य में भी पाते हैं। कहीं-कहीं तो व्यंग-काव्य में इसकी प्रतिष्ठा हुई है, जैसे 'कुकुरमत्ता' और 'खजोहरा' में, और कहीं यह भावनाओं का सहज और तीव्र उद्रेक बन कर फूटती है। 'कुल्ली भाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'चमेली' आदि गद्य-रचनाओं में भी इसी नये दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हम पाते हैं। 'बेला' में 'निराला' लिखते हैं :—

"केश रूखे, अधर सूखे,
पेट-भूखे, आज आए।
हीन-जीवन, दीन चितवन,

क्षीण आलम्बन बनाए।
तिमिर ने अब घेर कर
तुमको प्रकाश हरा तुम्हारा,
इस धरा के पार खोला
द्वार कृति ने, विश्व हारा।..."

'मँहगू मँहगा रहा', और 'खून की होली' आदि कविताओं में कवि का हृदय देश की पीड़ा से व्यथित होकर दारुण हाहाकार कर उठा है। 'निराला' के समान विशाल, महान् हृदय किसी संवेदनशील व्यक्ति के लिये भी दुर्लभ है, किन्तु भारत के समान त्रस्त देश में यह वरदान ही अभिशाप बन जाता है! यह आज 'निराला' जी की हालत से स्पष्ट है।

बंगाल के अकाल ने अनेक कवियों और लेखकों से सुप्त आत्मा को जगाया। इस सम्बन्ध में श्रीमती महादेवी वर्मा का 'बंग-दर्शन' एक स्मरणीय घटना थी। यह अनेक कवियों का सम्मिलित और सामूहिक प्रयास था, किन्तु महादेवी के चित्र और उनका मर्मवेधी गीत 'बंग भू शत वन्दना ले' इस संकलन की विभूति थे। जिन अन्य कवियों ने बंगाल के त्रास से द्रवित होकर काव्य-रचना की, उनमें नरेन्द्र शर्मा, 'बच्चन', 'सुमन' और रांगेय राघव के नाम उल्लेखनीय हैं। 'भूखा बंगाल' नाम से एक गद्य-संकलन भी इस सिलसिले में निकला; इसके सम्पादक श्री ब्रह्मदत्त विद्यार्थी थे।

सन् १९३६ से इस सहानुभूति के साहित्य की परम्परा निरन्तर विकसित हो रही थी। इस सम्बन्ध में अन्य प्रतिष्ठित लेखक यशपाल, रांगेय राघव, केदार, 'पहाड़ी', अमृतराय, नागार्जुन, शंकर, शैलेन्द्र आदि थे। जिन आलोचकों ने इस विचारधारा का साहित्य में समर्थन किया, उनमें प्रमुख थे शिवदान सिंह चौहान और रामविलास शर्मा। जब अनेक शास्त्रीय पद्धति के आलोचक 'कला कला के लिये' सिद्धान्त की गुहार कर रहे थे, इन प्रतिष्ठित आलोचकों ने कला के सामाजिक दायित्व पर विशेष जोर दिया।

प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकारों में यशपाल और 'अज्ञेय' ने विशेष ख्याति पाई। 'अज्ञेय' मुख्यत: व्यक्तिगत कुण्ठाओं के कलाकार हैं। यशपाल ने अधिक सामाजिक दृष्टिकोण अपनाया। अनेक कहानियों में दलितवर्ग के प्रति आपके हृदय की व्यथा और सहानुभूति गल कर बही है। 'अभिशप्त' में, '४२०' शीर्षक कहानी में, 'देशद्रोही', 'दिव्या' आदि उपन्यासों में। यशपाल की शैली की विशे-

षता चुटीला व्यंग्य है। आप अपने साहित्य में मुख्यतः सामाजिक अन्याय और दुराचार पर व्यंग्य की कठोर चोट करते हैं।

रांगेय राघव ने बंगाल के अकाल के अवसर पर बड़े मर्मस्पर्शी रिपोर्ताज और स्केच लिखे थे; इसी प्रकार ग्वालियर आदि में श्रमजीवी वर्ग के जीवन-संघर्षों पर। रांगेय राघव की सर्वतोमुखी प्रतिभा काव्य, उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में भी इसी वेग और शक्ति से प्रकट हुई है।

'नागार्जुन' भी विशेष रूप से व्यंग्य-प्रधान शैली का प्रयोग करते हैं। आप एक खेतिहर किसान घर की उपज हैं, जिसका निदर्शन आपके 'बलचनवाँ' शीर्षक उपन्यास में हुआ है। भीषण गरीबी, जमींदारी, एक प्रकार से पीढ़ी दर पीढ़ी जमीन्दार परिवार की गुलामी। बच्चे भी जन्मते ही इस परिवार के बिना खरीदे दास हो जाते हैं। इस दारुण व्यवस्था का चित्रण 'नागार्जुन' ने अपने उपन्यास में किया है।

आज का नया लेखक भी इसी साहित्यिक प्रवृत्ति की ओर बड़ी तेजी से खिंच रहा है। उसका मोहभ्रम रूप-शृङ्गार के प्रति टूट चुका है। वह अपनी कला को दरिद्रनारायण की भेंट चढ़ाना चाहता है। हिन्दी के अनेक उदीयमान लेखक साहित्य की इस विचार-धारा की ओर स्वभावतः आकृष्ट हो रहे हैं। उनके हृदय में धधकती ज्वाला है और उनके स्वर में अंगारों का उपहार है। जब कल के छायावादी भी अपने काव्य-लोक से प्रवासी बन गए हैं, तब जिनकी तरुण धमनियों में उष्ण रक्त है, उनकी बलिदान की भावना स्वभावतः और भी तीव्रतम होगी ही। इन नवीन विभूतियों में धर्मवीर भारती, भवानीप्रसाद मिश्र, नरेशकुमार मेहता, हरि व्यास, नामवर सिंह आदि अनेक कवि और लेखक हिन्दी साहित्य में अभी भी काफी ख्याति पा चुके हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में आज मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ संघर्षशील हैं :—एक व्यक्तिगत कुण्ठाओं की प्रयोगवादी धारा; दूसरी सामाजिक यथार्थ को चित्रित करनेवाली और प्रगतिशील शक्तियों को बल देनेवाली धारा। हमें ऐसा लगता है कि अन्ततः जीत सामाजिक धारा की होगी, और असामाजिक धारा की पराजय निश्चित है। देखिए, कितना ओज और बल इस नवीन साहित्यिक स्वर में है :—

"हम्या जन-जन,
युद्ध-पथ पर लड़खड़ाता हाँफता
हरि चरण पर भीति से बिजली सरीखा कांपता

तोड़ते आतुर हुआ यह क्षुद्र बन्धन
आज कर पीले नयनमें ज्योतिका धुँधला सपन ।
जल रहीं प्राचीनताएँ बाँध छाती पर

मरण का एक क्षण ।

इस अँधेरे की पुरानी ओढ़नी को बेध कर
आ रही ऊपर नए युग की किरण ।"

('दूसरा सप्तक', हरि व्यास से उद्धृत)

---o---

५

कला जनता के निकट कैसे पहुँचे ?

कला और जनता का निकट संपर्क चिरकाल से चला आ रहा है। कला की उत्पत्ति ही सामूहिक श्रम-भार को हल्का करने के लिये हुई थी। आज भी खेतों और खलिहानों में काम करती हुई स्त्रियाँ अथवा भारी शक्ति का काम करने वाले मज़दूर गीत गाकर श्रम का प्रतीकार खोजते हैं। अपने उत्पत्तिकाल में सभी कला सामूहिक साधना थी। अच्छी फसल के लिये, संपूर्ण समाज की समृद्धि के लिये नृत्य, संगीत, काव्य और नाटक से देवपूजा होती थी। ऐथेन्स में ६०,००० दर्शक सौफ़ौक्लीज़ (Sophoclis) या यूरीपाइडीज़ (Euripides) के नाटक देखते थे। Homer का अमर महाकाव्य उन्हीं के मुख से अनेक नगर राज्यों की जनता ने सुना था।

संगीत, नाटक और नृत्य के माध्यम से कला जनता तक आसानी से पहुँच सकती थी। आदिम समाज में कला का यह व्यापक सामूहिक रूप था। वर्ग-समाज बनने पर कला का क्षेत्र संकुचित हो गया। शिक्षा, संस्कृति और कला शासक-वर्ग के लिये और श्रम जनता के लिये, यह समाज-विभाजन का आधार था। कविता, जो पूर्व काल में सभी ज्ञान-विज्ञान का माध्यम थी, क्योंकि विद्या का आधार स्मृति थी, अब विशेषज्ञों की आराध्य बन गई। फिर भी जनता को कला से पूर्णतया काट कर अलग कर देना असंभव था। महान कला तो अवश्य ही वर्गों की दीवार लाँघ कर समस्त जनता को अपनाती है। हम देखते हैं कि शेक्सपियर अथवा तुलसीदास का काव्य जन जीवन का एक अभिन्न अंग है। जनता के सुख-दुख, हर्ष और विषाद के क्षणों में इन कवियों की पंक्तियाँ स्मृति में उमड़ती हैं और हृदय के भार को हल्का करती हैं।

इसके विपरीत आजकल सभी देशों में हम सुनते हैं कि कविता बिकती नहीं। हिन्दी में तो प्रकाशकों के अनुसार १,००० के संस्करण भी वर्षों में नहीं बिकते। इङ्गलैन्ड में उपन्यासों के लिये बाज़ार अपेक्षाकृत अच्छा है, और best-sellers तो लाखों की संख्या में बिक जाते हैं। आज की सामाजिक-

व्यवस्था जो लाभ पर अवलंबित है—सत्साहित्य के निर्माण में बाधक है। कला के बहाने वह जनता को अफ़ीम की गोली देती है, चाहे इसका रूप अश्लीलता हो, या हत्या आदि के रोमांचकारी वर्णन। इसके विपरीत सामाजिक हित पर आधारित व्यवस्था स्वस्थ कला को जनता तक आसानी से पहुँचा सकेगी।

इसके लिये स्वयं कलाकार को भी सचेत संघर्ष करना होगा। उसे अपनी कला को ऐसी वेश-सज्जा पहनानी होगी कि वह सुगमता से जनता के हृदय तक पहुँच सके। हम देखते हैं कि आजकल अनेक कवि और कलाकार अभिव्यक्ति के माध्यम तोड़ने में लगे हुये हैं। इनके अनुसार कविता का ध्येय पाठक तक पहुँचना नहीं, वरन् कवि की आत्म-अभिव्यक्ति मात्र है।

हमें स्वीकार करना होगा कि कला एक सामाजिक क्रिया है, और कलाकार अपनी जनता के हृदय तक पहुँच कर उसे प्रभावित करना चाहता है। इस सिलसिले में कुछ रुकावटें पैदा होती हैं, जिन्हें हटाना होगा। कला के साधारणीकरण और सामाजीकरण की समस्याओं पर हमें ध्यान केन्द्रित करना होगा।

इसके लिये आवश्यक यह है कि कला के रूप-प्रकार सामाजिक हों, भाषा, ताल, लय, संगीत, उपमाएँ और शब्द-चित्र तीर की तरह लक्ष्य तक पहुँचें और पाठक या दर्शक का मर्म बेध सकें।

आधुनिक कला की रूपवादी धारा भाषा को दुरूह और असाधारण बनाती है, ताल और लय को तोड़ती है, ऐसी उपमाएँ खोजती है, जो अर्थ को आलोकित न करें, वरन् उसे छिपावें, पाठक को चमत्कृत और आतंकित करें, भावावेश में विभोर नहीं। यूरोप की आधुनिक कविता में ही नहीं, वरन् संगीत, चित्रकला आदि में भी यह ह्रास के लक्षण प्रकट हो रहे हैं।

अपनी भाषा, ताल, लय अथवा रेखाओं के माध्यम से कलाकार जनता का मर्म स्पर्श करता है, इन्हें सरल, सहज और जन-सुलभ बनाने के लिये उसे अनवरत संघर्ष करना होगा। प्रेमचन्द की भाषा कितनी सरल और स्वाभाविक थी। क्या अद्भुत शिल्प से गढ़ी आज के कथाकार की भाषा प्रेमचन्द की तुलना में क्षणभर भी ठहर सकती है? या अति आधुनिक कवि की चमत्कारी भाषा तुलसी के अदम्य प्रवाह की समता कर सकती है? यह भाषा ज्वार के सागर अथवा वर्षा के तट के समान है, जिसकी प्रेरणा के स्रोत खुल गये हैं, यह उस शिल्पी का काम नहीं है, जिसने दिन और रात आँख फोड़ कर सोने में बहुमूल्य पत्थर जड़े हैं।

हिन्दी के युग-प्रवर्तक कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त की भाषा साधारणतः दुरूह और बोझिल समझी जाती है। किन्तु जब अपने काव्य की बिचली मंजिल में पन्त जी जनता तक पहुँचना चाहते थे, उनकी भाषा आदि का भी अभूतपूर्व काया-कल्प हुआ था। 'ग्राम्या' के चित्र अनायास ही हमें प्रेमचन्द का स्मरण दिलाते हैं।

'उजरी उसके सिवा किसे कब
पास दुहाने आने देती!
अह, आँखों में नाचा करती
उजड़ गई जो सुख की खेती?
बिना दवा दर्पन के गृहिनी
स्वरग चली—आँखें आतीं भर,
देख रेख के बिना दुधमुँही
बिटिया दो दिन बाद गई मर!
'घर में विधवा रही पतोहू
लक्ष्मी थी, यद्यपि पति घातिन,
पकड़ मँगाया कोतवाल ने,
डूब कुएँ में मरी एक दिन!
खैर, पैर की जूती, जोरू
न सही एक, दूसरी आती।
पर जवान लड़के को सुध कर
साँप लोटते, फटती छाती।'

इन पंक्तियों में कवि ने जीवन की व्यथा के मोती को जन साधारण की भाषा में पिरोया और सजाया है। इस मर्म-बेधिनी कला की रूप-सज्जा को कोई आधुनिक कवि अपने शिल्प की विचित्रता से परास्त नहीं कर सकता।

वर्ग समाज बन जाने पर भी जनता कला से कट कर एकदम अलग नहीं हो जाती; उसकी कला की अपनी धारा धरती के अन्दर बहती रहती है और जन-गीत, जन नृत्य के आदि के रूप में प्रकट होती है। इस जन-कला में हम जनता के अनवरत संघर्षों के चित्र पाते हैं, उनके सुख-दुख की गाथा, उनका सहज जीवन दर्शन और उनके राग-विराग की कहानी।

आधुनिक कवि और शिल्पी जन कला के रूपों से शिक्षा लेता है, और अपने अभिव्यक्ति के माध्यम अधिक तीखे और सशक्त बनाता है। जन-गीतों

की शैली नरेन्द्र शर्मा ने 'लाल निशान' में अपनाई थी। वह कहते हैं---

'दूर देश की बात सुनाऊँ,
दूर देश की बात—
अथवा, 'लाल चीन है ढाल, साथियो,
सब मज़दूर किसानों की।'
या 'इस दुनिया में दो दुनिया हैं,
जिनके नाम अमीर, गरीब।'

इसी शैली में कवि ने अपने मन की अन्तर्व्यथा प्रकट की है, जब वह कहता है कि वह अँधेरे में भटक रहा है, और उसे हाथ मारे नहीं सूझता।

'थाह नहीं मिलती जीवन की।
लहरों से ही रही खेलती, चंचल मछली मेरे मन की।
व्यर्थ हुई सिद्धांत-समीक्षा,
मिले न गुरु, न मंत्र, न दीक्षा।
लोह, काठ की नैया, तन की।
बूझे कैसे बात अतल की?'

आज हिन्दी के अनेक कवि जन-कला के रूपों को अपना रहे हैं, जिनमें नागार्जुन, केदार और 'अगिया बैताल' आदि प्रमुख हैं। साथ ही साहब सिंह मेहरा, खेमसिंह नागर आदि जन-कवियों के गीत भी प्रचलित और लोक-प्रिय हो रहे हैं।

सिद्धांत-रूप से हम कह सकते हैं कि जब उत्पादन के साधनों का समाजीकरण हुआ, तभी यह भी निश्चित हो गया कि कला अनेक रूपों में पूरे समाज तक पहुँचेगी। सिनेमा, रेडियो, टैलीविजन आदि के आविष्कार से कला का अभूतपूर्व समाजीकरण हुआ। चित्रपट के माध्यम से कला अनायास ही एक विशाल जन-समुदाय तक पहुँचती है। इस कला का गिरा हुआ स्तर नये प्रश्न और नई समस्याएँ खड़ी करता है। इतनी विराट जनता न ग्रीक नाटककारों को मिली थी, न मध्य युग के चारण और घुमक्कड़ कवियों को! न मिश्र के महान पिरैमिड को, और न ताजमहल को!

यदि प्रेस के आविष्कार ने यह सम्भव किया कि लाखों की संख्या में रोमाञ्चकारी घटनाओं के वर्णन पाठक पढ़ सकें, तो बोल-पट ने इस संख्या को अरबों और खरबों तक पहुँचाया है। इस प्रकार कला एक विशाल जन-समुदाय तक पहुँच

रही है, किन्तु यह कला बहुत नीचे स्तर की है। समस्या यह है कि उच्च स्तर की कला जनता तक कैसे पहुँचे ? सस्ते और अश्लील उपन्यास, फिल्म और गाने जनता का सांस्कृतिक धरातल निरन्तर नीचे गिरा रहे हैं और जन-रुचि को विकृत कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि आज की सामाजिक व्यवस्था में कला भी बिक्री का पदार्थ बन गई है और बड़े व्यवसायियों का उस पर अधिकार है। यह व्यवसायी टिकट-घर की माँग को कला का आधार बनाते हैं। जनता उत्कृष्ट कला की सदा से उपासक रही है, यह शेक्सपियर और डिकिन्स, सूर और तुलसी की लोकप्रियता से स्पष्ट है। किन्तु बड़े धनपति जब कला की भूखी जनता की क्षुधा सस्ते फिल्मों से मिटा सकते हैं, तो उन्हें क्या जरूरत कि वे अमर 'क्लासिक्स' (classics) की सृष्टि में धन व्यय करें। संस्कृति के उपादानों का समाजीकरण हो चुका है। प्रेस, रेडियो, सिनेमा का प्रयोग उच्चतम संस्कृति की सृष्टि के लिये यदि नहीं होता, तो कोई भी स्वस्थ समाज इसके प्रति उदासीन नहीं रह सकता। लाभ पर अवलम्बित उत्पादन-व्यवस्था श्रेष्ठ कला की उत्पत्ति में यदि बाधक है, तो हमें सामाजिक हित और सामाजिक कल्याण का लक्ष्य उसके सामने रखना ही होगा।

कला का महत्व आज सभी स्वीकार करते हैं। उसके प्रभाव में अधिक से अधिक जन-समुदाय आ सके, यह भी सर्वमान्य है। अवश्य ही कुछ संकीर्ण बुद्धि के व्यक्ति जनता को उच्चतम कला के उपभोग के योग्य नहीं समझते किन्तु इतिहास अनुभव इसके विपरीत है। आज की संस्कृति का तीव्रतम विरोध यह है कि जनता तक कला के पहुँचाने के सब उपकरण आधुनिक समाज के पास हैं; किन्तु वह उत्कृष्ट कला का वाहक नहीं बन पाता; दूसरी ओर प्रतिभावान कलाकार इन सामाजिक उपकरणों का उपयोग नहीं कर सकते, उनके मार्ग में अनेक रुकावटें आती हैं। अनेक कलाकार अपने काव्य को उत्तरोत्तर दुर्बोध बनाने का प्रयास करते हैं, जब कि गिरे स्तर के फ़िल्मी गीत घर-घर फैल जाते हैं।

कला को जनता तक पहुँचाने के लिये आवश्यक यह है कि हमारे पास एक राष्ट्रीय योजना हो, जो संस्कृति, उपादानों और कलाकारों के सहयोग से उत्कृष्ट कला की सृष्टि में सहायक बने। एक विराट जन-कला की सृष्टि के साधन जैसे आधुनिक समाज को प्राप्त हैं, वैसे इतिहास में पहले कभी उपलब्ध न थे। इन साधनों को जन-हित के प्रयोग में लगाने की समस्या समाज को अभी हल करनी है। तभी हम श्रेष्ठ कला को एक विशाल जन समुदाय तक पहुँचा सकेंगे।

कला को जनता के निकट पहुँचाने के लिये कलाकार को भी अपने मान बदलने होंगे। उसे स्वयं जनता के निकट पहुँचना होगा, उसे जन जीवन का अन्यतम परिचय प्राप्त करना होगा। अपने स्वप्न प्रासादों में रह कर वह जीवन के यथार्थ को हृदयङ्गम नहीं कर सकता। पुराने संत कवियों की भाँति जनता के जीवन का निकट अनुभव उसे पाना होगा। तभी वह समर्थ लेखनी या तूलिका से जनता के लिये कला रच सकेगा। यदि उसने अपने और जनता के बीच मानसिक दीवारें खड़ी कर रक्खी हैं, तो उसकी कला जनता तक कैसे पहुँच सकेगी ? उसे जनता का कलाकार बनना होगा। जनता की भावनाएँ कला में व्यक्त करती होंगी। इसके उदाहरण भी इतिहास में हैं। Van Gogh ने अपने जीवन के अनेक वर्ष कोयले की खानों में बिताये थे, ताकि वह उस जीवन का यथार्थ चित्रण कर सके। कम-से-कम इतना तो आवश्यक है ही कि जिस जनता के लिये हम लिखना चाहते हैं, उसके जीवन से हम परिचित हों, उसकी समस्याओं का हमें बोध हो, अपनी कला के माध्यम से उस जनता का सांस्कृतिक स्तर उठाने की हम में तीव्र आकांक्षा हो। प्रेमचन्द की सृजन-प्रेरणा और शक्ति का रहस्य जनता के जीवन का यही घनिष्ठ परिचय और अनुभव था। उस परम्परा की रक्षा और उसका विकाश हम उनके पद-चिह्नों का अनुसरण करके ही कर सके हैं।

--o--

६

कहानी की कला

कहानी मनुष्य के सबसे पुराने, सुपरिचित साहित्यिक रूपों में से एक है। बच्चा कहानी के माध्यम से ही अपनी दादी के घुटनों पर बैठकर अपनी शिक्षा आरम्भ करता है; एक राजा था, जिसकी सात रानियाँ थीं।...प्राचीन काल में बुद्ध और ईसा के समान महापुरुष लघु कथाओं के माध्यम से अपनी अनमोल सीख प्रसारित करते थे। पूर्व के विद्वद्जन अपने ज्ञान का प्रचार पञ्चतन्त्र की कथाओं अथवा ईसप की कहानियों के समान माध्यम से करते थे। कहानीकला में पटु होने के कारण ही राजकुमारी शहरजाद का सिर बधिक की कुल्हाड़ी से बच सका। कहते हैं कि प्राचीन भारतीय कहानियों का संग्रह, कथासरित सागर, एक महान भंडार का अंश मात्र ही बचा है।

यद्यपि कहानी अत्यन्त प्राचीन साहित्यिक रूपों में से एक है, फिर भी अपनी आधुनिक, पाश्चात्य सज्जा में वह साहित्य के इतिहास में एक तरुणतम प्रयास है। आधुनिक कहानी अपने प्राचीन प्रतिरूप से कोई वंश-संबन्ध नहीं स्थापित कर सकती। रूप में समानता के कुछ चिह्नों के अलावा इनमें और कुछ भी एक-सा नहीं है। दोनों का वस्तु-विधान और उसका विकास अत्यन्त भिन्न है। निस्संदेह ही दोनों में कुछ समानता अवश्य है। दोनों में ही कथानक हैं और पात्र हैं। वस्तु के निरूपण का एक लक्ष्य भी होता है और उससे कुछ शिक्षा मिलती है, यद्यपि आधुनिक कहानी-कला में वह स्पष्ट शब्दों में नहीं व्यक्त होती। लेकिन प्राचीन कहानी और आधुनिक कहानी में दृष्टिकोण का भारी अन्तर है। हमारे पूर्वपुरुष कहानी में कर्म, घटना-चक्र, उत्तेजना और स्फूर्ति पसंद करते थे। वे राजा और रानियों की चर्चा करते थे; पश्चिम की दिशा में वर्जित यात्राओं का वर्णन करते थे, जहाँ राजकुमारियाँ फूलों से तुलती थीं; वे श्रावस्ती, समरकन्द, बोखारा और दूरस्थ चीन को जाते हुए व्यापारियों के कारवानों की कथा कहते थे। वे मानव चरित्र को अत्यन्त सामान्य श्रेणियों में बाँटते थे। बीच के छाया-स्थलों को वे कोई महत्व न देते थे। मनुष्य वीर है,

अथवा कायर है; देवता है, या राक्षस है। वे जीवन और मनुष्य-स्वभाव की जटिलताओं और असंगतियों का कोई अंकन न करते थे। उनकी कथा में शिक्षा स्पष्ट ही बाद में जोड़ दी जाती थी, निसंकोच स्पष्टता से। आधुनिक कहानी की भाँति उनकी सीख लुक-छिपकर न आती थी।

वास्तव में प्राचीन कहानी, नैतिक शिक्षा और कहानी सब कुछ मिलकर एक मिश्रित वस्तु थी। आधुनिक कहानी की वंशावली कुछ और ही है। इसमें बुकैचियो की कथाएँ, आर्थर से संबंधित रोमान्स, इटली का 'नौविला' और अठारहवीं शताब्दी के अँग्रेजी निबन्ध और स्केच आते हैं। आधुनिक कहानी जीवन और मानव-स्वभाव पर प्रकाश डालती है और जीवन की वास्तविकताओं के अधिक समीप है। अधिक सही अर्थ में वह जीवन का प्रतिनिधित्व करती है और उसके साथ गुँथी है।

आधुनिक कहानी उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग जीवन-यात्रा शुरू करती है। यदि हम ऐडीसन और स्टील के स्केचों को भी कहानी में शामिल करें, तो हम इस आरम्भ को कुछ और पीछे हटा सकते हैं; लेकिन कुछ आलोचकों के अनुसार तो बौज़ (Boz) के स्केच भी कहानी की अपेक्षा रिपोर्ताज़ की श्रेणी में अधिक आयेंगे। आधुनिक कहानी का कला-रूप अति परिमार्जित हो गया है। लिरिक (Lyric) के समान इसकी केन्द्रीय एकता होती है, और सॉनेट के समान यह रूप की सुगढ़ता को महत्व देती है।

कहानी की लोकप्रियता का श्रेय मासिक पत्र-साहित्य के विकास को मिलना चाहिए। यह सच है कि उन्नीसवीं सदी की पत्रिकाएँ विक्टोरियन उपन्यासकारों के लम्बे, अन्तहीन, 'तीन-मंज़िल' के उपन्यासों को भी स्थान देती थीं, लेकिन एक छोटी कथा, जिसे आप एक ही साँस में सटक सकते थे, उनके काम की अधिक थी। यह बहुधा कहा गया है कि आधुनिक जीवन की भाग-दौड़ और उत्तेजना के कारण उन भारी-भरकम ग्रन्थों के पचाने का अवकाश पाठक को कम रहता है, जो विक्टोरियन युग में इतने प्रिय थे और जिनकी इतने कटु शब्दों में लिटन स्ट्रैची ने खिल्ली उड़ाई है! इस विचार का कुछ समर्थन अमरीका में कहानी की लोकप्रियता से भी होता है, जहाँ जीवन में इतनी भगदड़ मची रहती है। फिर भी, सत्य यह है कि कहानी उपन्यास की जगह उसी प्रकार नहीं ले सकती, जैसे गीत महाकाव्य की। जीवन महाकाव्य की व्यापकता और महानता का भूखा है और वह आनन्द, प्रेम और सौन्दर्य के क्षणों की लघु उड़ानें भी चाहता है।

कभी-कभी कहानी को उपन्यास का लघु रूप कहा गया है। निस्संदेह ही कहानी समय के एक लघु पल के लिए उसी प्रकार साहित्यिक मनोरंजन प्रदान करती है, जैसा कि उपन्यास दीर्घ काल तक देता है। पात्रों के माध्यम से एक कथा वह कहती है और इस प्रकार वह अपने अंकन द्वारा जीवन के किसी मार्मिक अथवा गहरे सत्य का उद्घाटन करती है। कहानी के पीछे सृजनात्मक प्रेरणा क्षणिक होती है, शिखा-ज्वाल के समान, जो शीघ्र ही बुझ जाए। उपन्यास में सृजन-प्रेरणा को समय की लम्बी अवधि तक पोषित करना होता है। कहानी जीवन की एक सूक्ष्म झाँकी मात्र ही दे सकती है; उपन्यास जीवन की विशालता बहुरूपता और जटिलताओं का बहुमुखी अङ्कन करता है। हम कह सकते हैं कि कहानी और उपन्यास का परस्पर वैसा ही संबंध है, जैसा गीत का महाकाव्य से, अथवा एकांकी का सर्वाङ्ग नाटक से। इनमें सृजन-प्रेरणा का युग और विषय का प्रतिपादन पूर्ण रूप से ही भिन्न होता है।

कहानी किसी एक ही घटना अथवा परिस्थिति का वर्णन करती है; मानव स्वभाव के किसी एक ही पक्ष की ओर वह ध्यान आकर्षित करती है। जीवन के एक लघु अंश का ही वह निरूपण कर सकती है। जीवन की अनेकरूपता का दिग्दर्शन कराने का स्थान अथवा समय उसके पास नहीं होता; न वह मानव-स्वभाव की अनेक सूक्ष्म जटिलताओं का परिचय दे सकती है। हडसन (Hudson) के शब्दों में कहें : कहानी में कुछ क्षणों के लिये हम पात्रों से मिलते हैं और उन्हें कुछ ही संबंधों और परिस्थितियों में देखते हैं।

पैन्गिवन (Penguin) माला के 'सात प्रसिद्ध एकांकी' की संक्षिप्त भूमिका में उसके सम्पादक अनेक उपादेय बातें कहते हैं, लम्बे नाटक में, जैसे कि उपन्यास में, लेखक शब्द पर शब्द और वाक्य के बाद वाक्य की भरमार कर के ठीक वही प्रभाव पैदा करना लगभग निश्चित कर सकता है, जो कि उसका ध्येय है। लेकिन संक्षिप्त नाटक में, लेखक के पास समय नहीं होता, जिसमें वह चरित्र अथवा परिस्थितियों का विकास कर सके। उसके पात्रों की झलक दर्शकवृन्द पाते हैं, मानो वे खिड़की के सामने से गुज़रती हुई आकृतियाँ हों। उसकी घटनाओं को जल्दी से समझना होता है, दीवार पर लटके चित्र की भाँति। और अच्छे संक्षिप्त नाटक में देखने की बात यह भी है कि यह सब फल शब्दों की अतिशय मितव्ययता से प्राप्त होता है।

वही लेखक इतने ही ज़ोर से लम्बे और संक्षिप्त नाटक के बीच तथा उपन्यास और कहानी के बीच सभी तुलना अस्वीकार करता है : संक्षिप्त नाटक गोली के

रूप में पूर्ण नाटक उसी प्रकार नहीं है, जैसे कहानी उपन्यास का लघु रूप नहीं है। फिर भी, अनेक आलोचक जो कहानी को कभी लघु उपन्यास न कहेंगे, एकांकी को लघु नाटक कहते जाते हैं, मानो नाटक का महत्व और मूल्य उसके परिमाण से निर्धारित होता हो। वास्तविकता यह है, जिसे अब अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये, कि जैसे उपन्यासकार होते हैं, जो कहानी नहीं लिख सकते और कहानीकार, जो उपन्यास लिखने में सफल होते हैं, ठीक इसी तरह नाटककारों का भी है। दोनों रूप अलग-अलग और भिन्न हैं, उतने ही भिन्न और विलग, जैसे व्यक्ति-चित्र बनाने की कला दृश्य-चित्र बनाने की कला से।

कहानी की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं, लेकिन परिभाषाएँ अपने स्वभाव से ही असंतोषप्रद होती हैं। इन परिभाषाओं में से अनेक इस बात पर ज़ोर देती हैं कि कहानी 'संक्षिप्त' होती है और उसकी लम्बाई की सीमाएँ निर्धारित करने का प्रयास करती हैं। हडसन की परिभाषा के अनुसार 'कहानी एक ही बैठक में पढ़ी जा सकती है।' पो (Poe) के अनुसार कहानी वह गद्य-कथा है 'जिसके पढ़ने में आध घंटे से लगाकर घंटा-दो घंटा तक लग सकता है'। वैल्स (Wells) इसकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं : वह कथा, जिसे घंटे भर के अन्दर ही पढ़ा जा सके। शिप्ले (Shipley) कहते हैं कि अधिकाधिक लेखक यह अनुभव करने लगे हैं कि ज्ञान का तथ्य संक्षिप्तता में है।

यह व्याख्या कि कहानी संक्षिप्त होती है, स्वयं-सिद्ध है और इसके लिए किसी बड़ी प्रखर आलोचना-बुद्धि की भी अपेक्षा अथवा आवश्यकता नहीं है। इसके लिए समय अथवा शब्दों के अनुपात में कड़ी सीमाएँ निर्धारित करने से भी कोई लाभ नहीं। वैयाकरण को परेशान करने के लिए नित्य नए रूप विकसित होते हैं, जिन्हें 'लम्बी संक्षिप्त कहानी' अथवा 'संक्षिप्त लम्बी कहानी' भी कहा जा सकता है। शिप्ले ठीक ही कहते हैं : इसकी अनेकरूपता को किसी एक साँचे में नहीं ढाला गया है।

इस प्रकार कहानी की संतोषप्रद परिभाषा अनुपात अथवा लम्बाई की अपेक्षा किन्हीं दूसरे तत्वों में खोजनी चाहिए। 'जीवन का खण्ड' अधिक अर्थपूर्ण व्याख्या है, किन्तु कुछ और आवश्यक तत्व छोड़ देती है। अपहम (Upham) कहते हैं : आदर्श कहानी सॉनेट के समान ही निर्दोष गठन की सजीव रचना होती है। उनका यह भी आग्रह है कि लिरिक की भाँति ही इसकी केन्द्रीय एकता होती है।

आलोचकों ने कहानी की सफलता के लिए केन्द्रीयता, भावना की एकता

और एकाग्रता, संक्षेप में बात कहने का गुण, आदि आवश्यक बताए हैं। पो (Poe) ने लिखा है : कहानी को इतनी संक्षिप्त कथा होना चाहिए कि उसे एक ही बैठक में पढ़ा जा सके, पाठक पर उसे एक ही प्रभाव डालना चाहिए, और जो कुछ उस एक आप ही में संपूर्ण प्रभाव की प्रगति में सहायक नहीं होता, उसे अलग कर देना चाहिए। एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं: संक्षिप्त कथा के प्रथम श्रेणी के लेखक को टेकनीक का प्रेमी होना चाहिए; उसे कलाकार होना चाहिए। क्योंकि अच्छी कहानी की रचना में स्थापत्य का सौंदर्य होता है। कथानक के सम्बन्ध में वे कहते हैं : कुछ लोग इसे केवल घटनाक्रम की जटिलता समझते हैं। इसकी सबसे कठिन व्याख्या के अनुसार कथानक वह तत्व है, जिसका कोई परमाणु अलग नहीं किया जा सकता, और जिसमें बिना पूरी वस्तु को हानि पहुँचाए कोई भी अणु हटाया नहीं जा सकता।

कहानी 'किसी नाटकीय घटना अथवा परिस्थिति का, किसी आकर्षक दृश्य का, अन्तरंग रूप से गुँथे घटना-क्रम का, चरित्र के किसी पहलू का, अनुभव के अंश का, किसी नैतिक समस्या का' वर्णन करती है।

हौथोर्न (Hawthorne) की 'दो बार कही कहानियाँ' (Twice-told Tales) की आलोचना करते हुए कहानी-कला के आचार्य 'पो' (Poe) बताते हैं कि कहानी किस प्रकार अच्छी तरह से लिखी जा सकती है। कुशल कलाकार पहले तो बहुत सतर्क चिन्ता से किसी एक, असाधारण प्रभाव की बात सोचेगा, फिर वह ऐसी घटनाओं की कल्पना करेगा, ऐसा घटना-क्रम एकत्रित करेगा, जो उसके पूर्वकल्पित प्रभाव की सृष्टि में सबसे अधिक सहायक हो... कथा के विचार का निर्दोष निरूपण होता है, क्योंकि इसमें कोई बाधा नहीं पड़ती। और यह लक्ष्य उपन्यास नहीं साध सकता।

कहानी में जो विभिन्न तत्व होते हैं, उनमें से एक पर ही विशेष जोर दिया जा सकता है। यह कोई घटना अथवा परिस्थिति हो सकती है, चरित्र का कोई पहलू, अथवा वातावरण विशेष हो सकता है। इस सम्बन्ध में हडसन लिखते हैं : कहानी के पीछे केवल एक ही प्रेरक विचार हो सकता है, और इस विचार का विकास उसके तर्क-संगत अन्त तक लक्ष्य की पूर्ण एकाग्रता और माध्यम की स्पष्टता द्वारा होना चाहिए। इसी प्रकार शिप्ले (Shipley) कहते हैं: उपन्यास के सब पहलुओं में से कथा, चरित्रों का चित्रण, व्याख्या और विकास, स्थानीय रंग की पृष्ठ-भूमि, भावनाओं का घात-प्रतिघात और उनका विरोधाभास—इनमें से कहानी किसी एक को ही चुन सकती है और उसी का निरूपण कर सकती है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि गॉल्ज़वर्दी A portrait अथवा A Stoic में चरित्र पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, और Spindle berrirs में व्यथित चिन्तन अथवा एक विशेष भावना पर। इसी प्रकार पो (Poe) अपनी अनेक कहानियों में किसी विशेष भावना अथवा रंग पर ध्यान एकाग्र करते हैं। The Pit and the Pendulum में वह भय और आशंका का वातावरण बनाते हैं; उनकी William Wilson एक खंडित व्यक्तित्व की कथा है। The Gold Bug अथवा The Purloined Letter में वह एक उत्तेजक घटना का वर्णन करते हैं। इसी प्रकार जेम्स जॉयस James Joyce अपने संग्रह Dubliners में या तो केवल किसी घटना का वर्णन करते हैं, अथवा मानव-चरित्र के किसी पहलू का अथवा जीवन के खंड का चित्रण करते हैं। इधर ऐसी अनेक कहानियाँ लिखी जा रही हैं, जो जीवन के किसी विशेष पहलू की संक्षिप्त और उड़ती हुई झाँकी मात्र हैं, एक गन्ध भर, वायु के झोंके में भरी सुगन्धि मात्र। अधिकाधिक चरित्र-चित्रण खंडित हो रहा है और एक 'शैली विशेष' की आधुनिक कहानी से घटना-क्रम और कथानक लुप्त होता जा रहा है। हम यह भी कह सकते हैं कि पूर्वकालीन कहानियों में आग्रह कथानक पर होता था, बाद में चरित्र पर था और अब सामाजिक पृष्ठ-भूमि अथवा वातावरण पर है। कुछ आधुनिक कहानियाँ, जैसे जेम्स जॉयस की कुछ रचनाएँ, स्केच, निबंध अथवा साहित्यिक रिपोर्ट भी कही जा सकती हैं। ऐसा लगता है कि कहानी अपने पथ-चिह्नों पर मुड़ रही है, और जहाँ से उसका आरम्भ हुआ था, वहीं लौटकर फिर पहुँच गई है, यानी Addison, Steele अथवा Boz के स्केचों के समीप।

लेकिन फिर भी अनेक प्रमुख लेखकों की रचनाओं में पूर्ण, वृत्ताकार कहानी की परम्परा जीवित है। वे रूप के विनाश के आधुनिक रोग से किसी तरह बच गए हैं। गॉल्ज़वर्दी के The Apple Tree अथवा The First and the Last में हम पूर्ण-वृत्त कहानी के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण देख सकते हैं। इसी प्रकार Somerset Maugham की अनेक सुपरिचित कहानियों में हम कहानी के सभी तत्व पाते हैं। उनमें कथानक, घटना, पात्र, सामाजिक पृष्ठ-भूमि सभी तत्व परस्पर गुँथे और घुले-मिले होते हैं।

कुछ ऐसे तुनुक-मिजाज व्यक्ति भी हो सकते हैं, जो इन सुन्दर कहानियों को कहानी की संज्ञा देने में संकोच करें। वे कहेंगे कि The First and the Last के समान कहानियों को लम्बी कहानी कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि

वे शब्द-समूह की किसी काल्पनिक और परिभाषातीत सीमा के पार चली गई हैं।

लेकिन कहानी के रूप में काफी लचक हो सकती है। उसकी गठन के लिए कोई जड़ और अटल नियम अथवा सिद्धान्त नहीं बनाए जा सकते। हम अच्छी कहानी को पढ़ते ही तुरन्त पहचान सकते हैं। व्याख्या की दृष्टि से यह बात कुछ अधिक संतोषप्रद नहीं है, लेकिन कला और साहित्य की विवेचना में हम बहुधा इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। कला की किसी भी उत्कृष्ट रचना में लेखक की प्रेरणा अभिव्यक्ति के उपयुक्त रूप खोज लेती है। सृष्टि की ज्वाला में वस्तु और रूप गल कर एक हो जाते हैं।

कहानी-कला के अपने अध्ययन में, शोन ओ' फाउलेन (Sean O' Faolain) इस बात को इस प्रकार कहते हैं : मैं यह अस्वीकार नहीं करता कि सीखने के लिए कुछ टेकनीक के गुण भी रहते हैं, किन्तु वे दूसरा स्वभाव बन जाते हैं और उन्हें शीघ्र ही भुला देना चाहिए। अच्छी कहानी के गुण परिभाषा में नहीं समा सकते...कहानी में जिन गुणों की अपेक्षा मैं रखता हूँ, वे शक्ति और काव्य हैं। इस सब में टेकनीक का हिस्सा बहुत कम होता है। आगे चलकर फाउलेन लिखते हैं : मेरी समझ में शक्ति और काव्य यथार्थ और व्यक्तिगत स्फूर्ति के मिश्रण से आते हैं। कलाकार की स्फूर्ति वस्तु में कुछ कर देती है। वह उसे आलोकित कर देती है; वह उसे जला देती है; वह उसे स्मृति में धूम्र-गन्ध की भाँति भर देती है, जो हम कथा के सब विवरण को भूलकर भी याद रखते हैं। बिना इसके हमें कथा मिलती है, लेकिन मनुष्य नहीं।

गोली बेचनेवाले, व्यवसायी प्रकाशक नौसिखियों को यह शिक्षा देने का दंभ करते हैं कि वह अच्छी कहानी कैसे लिखें, ठीक उसी प्रकार जैसे वह उसे सिखाते हैं कि वह वस्त्र किस प्रकार पहनें, खाना कैसे खाएँ, बोलें कैसे ! एक लेखक, जो 'संसार में सबसे अधिक ग्राहकों वाली' पत्रिका में कहानियाँ लिखते हैं, हमें बताते हैं कि 'कहानी एक आकर्षक व्यक्ति के बारे में होती है, जो ऐसे लक्ष्य की ओर बढ़ता है, जिसका लेखक समर्थन करता है, और उसकी प्रगति में ऐसा व्यक्ति बाधा अथवा रोक डालते हैं, जिन्हें लेखक हेय समझता है।' हम स्मरण कर सकते हैं कि यह सुपरिचित नुस्खा अब भी सिनेमा में सरलतापूर्वक प्रयोग होता है, जहाँ और सभी कला-रूपों से व्यावसायिकता अधिक बढ़ी-चढ़ी है।

शिप्ले एक अमरीकी फ़ार्मूला का वर्णन भी करते हैं, जो इस प्रकार है : धार्मिक पृष्ठभूमि, रईसी ठाठ-बाट, संक्षिप्तता और कुछ चटपटापन। इसके अनु-

सार बढ़िया कहानी में यह वाक्य आता है : ओफ़, डचैस, कृपा करके मेरे घुटने पर से हाथ हटाओ !

अन्य लेखकों ने भी, जिन्हें इस विषय पर कुछ कहने का अधिकार अधिक है : व्याख्या की है कि किस प्रकार कहानी का अंकुर फूटता है, और कैसे उसका विकास होता है। यह किसी ध्यान खींचनेवाली परिस्थिति से घटना अथवा व्यक्तित्व से, या घटनाओं और व्यक्तियों को नए रंग में रंगनेवाली पृष्ठभूमि से फूट सकता है। शोन ओ' फ़ाउलेन के अनुसार यह 'बिल्ली की मृत्यु से, बच्चे के आँसुओं से, किसी मित्रता के विनाश से, क्रूर शिक्षक से, उदास दिन से, ग्राम-देश में छुट्टी मनाने से, फूल के स्पर्श से' जन्म ले सकता है। इनमें से कोई भी परमाणु, 'व्यक्तित्व की स्फूर्ति' अथवा 'शक्ति और काव्य' पाकर अनुपम कला-कृति में परिणत हो सकता है।

स्टीविनसन (Stevenson) भी इस कच्चे मसाले के बारे में लिखते हैं, जो कलाकार के प्रेरक स्पर्श से रूप और सौन्दर्य प्राप्त करता है : कहानी के धागे बीच-बीच में साथ जुड़ जाते हैं और पट में चित्र बुनते हैं। पात्र बीच-बीच में परस्पर अथवा प्रकृति के साथ किसी विशेष संबंध में बँधते हैं, जो कहानी को चित्र की भाँति मन पर छाप देता है। क्रूसो पद-चिह्न से भड़कता हुआ, ऐकिलीज ट्रॉय के लोगों को कोसता हुआ, यूलिसीज़ बड़े धनुष को झुकाता हुआ, क्रिश्चियन अपने कान बंद करके भागता हुआ—यह सब कथा के चरम-विन्दु हैं, और इनमें से प्रत्येक सदा के लिए मन पर अंकित हो गया है...यही साहित्य का लचकीला स्वरूप है : चरित्र, विचार अथवा भावना को किसी कार्य अथवा मुद्रा में मूर्त्त करना, जो मन की आँखों पर गहरी रेखा में अंकित हो जाए। (स्मृतियाँ और व्यक्ति चित्र)।

एक अन्य स्थान पर, ग्रेहम बैलफ़र (Graham Balfour) के साथ बातचीत करते हुए स्टीविनसन ने वर्णन किया है कि किस प्रकार कहानी गढ़ी जाती है। वे कहते हैं : कहानी लिखने के केवल तीन तरीके हैं, और सिर्फ तीन ही हैं। आप कथानक लेकर उस पर पात्र मढ़ सकते हैं, या कोई चरित्र लेकर उसके विकास के लिए घटनाएँ और परिस्थितियाँ गढ़ सकते हैं, या अन्त में... आप कोई वातावरण ले सकते हैं और उसको मूर्त करने के लिए घटनाएँ और पात्र निर्मित कर सकते हैं।

विचार का बीज किसी प्रकार भी अंकुरित हो, कलाकार के स्पर्श के जादू से फल-फूलकर उसे सुन्दर कला-कृति बनना होता है। कलाकार के लिए सभी अनु-

भव कच्चा माल है। कलाकार की महान सृजन-प्रेरणा उसे छूकर सोना बनाती है। यह जीवन की गहरी अनुभूति और सूझ से ही संभव हो सकता है। यह सभी सृजन-कला के बारे में सच है। ए० ई० (A.E.) 'सजीव मशाल' (The Living Torch) में लिखते हैं : अन्ततः कवि के विषय में महत्व की बात यह है कि वह कितने गहरे जीवन से बोल रहा है! ए० ई० विचारों की अपेक्षा व्यक्तिगत अनुभव का भी बहुत महत्व मानते हैं। वे कहते हैं : काव्य के रूप में आत्मा का थोड़ा-सा व्यक्तिगत अनुभव भी संसार के सबसे महान् शिक्षकों के सबसे महान् विचारों से बढ़कर है, चाहे हम उन विचारों को कितनी ही भक्ति से क्यों न जपें।

विचार अपने अमूर्त रूप में कला-कृतियाँ नहीं गढ़ सकते। किन्तु जीवन-अनुभव के साथ जुड़कर वे एक बड़ी शक्ति बन जाते हैं। विचार जीवन के अनुभव को समझने में भी सहायक होते हैं। वास्तव में विचारों और अनुभव को अलग-अलग कोठरियों में बन्द करना असम्भव है। विचारों को अनुभव के माध्यम से ही हम हृदयंगम कर सकते हैं; इसी प्रकार बिना विचारों के कोई अनुभव असम्भव है। अनुभव विचारों की पहली सीढ़ी होती है। उसके आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं और विचारों की सृष्टि होती है। चेकफ़ के समान लेखक भी, जो अपने निर्लिप्त भाव और जीवन की व्यंगात्मक अनुभूति के लिए प्रसिद्ध है, कला में स्वीकारात्मक दृष्टि को महत्व देता है। सन् १८९२ में सुवोरिन (Souvorin) को अपने एक पत्र में वह लिखता है : जिसके मन में कोई आकांक्षा नहीं है, आशा नहीं है, कोई भय नहीं है, वह कलाकार नहीं हो सकता। एक और पत्र में उसी सुवोरिन को वह लिखता है : लेखक अपने कर्त्तव्य और अंतःकरण की चेतना से शर्त में बँधा हुआ प्राणी होता है। रस्सी पकड़कर वह यह नहीं कह सकता कि वह खींचेगा नहीं। और उसके मन में चाहे जितनी अरुचि हो, उसे अपनी नाजुक-मिजाजी को जीतना ही होगा, उसे जीवन की गन्दगी से अपनी कल्पना को मलिन करना ही होगा।

अनेक लेखकों ने कहानी में कथा के तत्व की भर्त्सना की है। इस प्रकार के विचारों में काफ़ी विरोधाभास लगता है, किन्तु वे व्यक्त हुए हैं। शेरवुड एन्डरसन (Sherwood Anderson) कथानक को 'कहानी का विष' कहते हैं। शोन ओ' फ़ाउलेन लिखते हैं : 'आधुनिक कहानी-लेखक ने घटना अथवा किस्सा या कथानक और उसके सब साथ के तत्वों को छोड़ा नहीं है, केवल उनका स्वभाव बदल दिया है। अब भी घटनाएँ होती हैं, किन्तु वे मन

की यात्राएँ होती हैं। वे कहते हैं, आधुनिक लेखक के लिए यात्राएँ मानव स्वभाव के जंगल में होती हैं।'

छोटी-से-छोटी बात, बहुत मामूली चीज़ भी कहानी को जन्म दे सकती है। कलाकार की गहरी दृष्टि, उसकी कल्पना उसे सुन्दरता और सार्थकता देगी। फ्लाबेयर (Flaubert) ने मोपासाँ (Moupassant) को अपनी सलाह में इस बात पर जोर दिया था : जो कुछ भी हम व्यक्त करना चाहते हैं, उसका हमें काफ़ी ध्यान से और एक लम्बे अरसे तक मनन करना चाहिये। तभी इसमें हमें ऐसे पहलू मिलेंगे, जिनको न अब तक किसी ने देखा है, न उसका वर्णन किया है। हर वस्तु में अब भी कोई अनदेखा कथानक छिपा है, क्योंकि हम अपने नेत्रों से केवल वही देखने के अभ्यस्त हैं, जिसकी पूर्वजों-द्वारा वर्णित स्मृति हमारे मन में है। छोटे-से-छोटे पदार्थ में भी कुछ अज्ञात रहता है। इसे खोजो। आग की ज्वाला अथवा मैदान के वृक्ष का वर्णन करने के लिए उस ज्वाला और वृक्ष को देखो, और देखते रहो; जब तक कि तुम्हारी आँखों में उनकी किसी भी और वृक्ष और अग्नि से सब समता नष्ट न हो जाए। मौलिक होने का यही मार्ग है। जब तुम दूकान पर बैठे किसी पंसारी के पास से अथवा 'पाइप' पीते हुए किसी द्वारपाल या गाड़ियों के अड्डे के पास से निकलो, तो तुम मुझे वह पंसारी और द्वारपाल उनकी संपूर्णता में दिखाओ—उनकी मुद्रा, पूरी शारीरिक छवि, साथ-ही-साथ, चित्र की कुशलता इसी में है, उनका संपूर्ण नैतिक स्वभाव भी दिखाओ, ताकि मैं फिर कभी उन्हें कोई और पंसारी अथवा द्वारपाल समझने के धोखे में न पड़ूँ। एक शब्द में मुझे यह दिखाओ कि इस गाड़ी का घोड़ा उन पचास घोड़ों से भिन्न है, जो उसके आगे या पीछे आ रहे हैं।

कथानक को आलोचकों ने कहानी के विभिन्न तत्वों में सिन्ड्रैला, यानी सौतेली पुत्री के समान माना है। किन्तु आलोचकों के पूर्वपुरुष, अरस्तू ने कथानक का ही पक्ष लिया था। उनका विचार था कि ट्रैजिडी का अस्तित्व चाहे बिना चरित्रों के सम्भव हो, लेकिन कथानक के बिना असम्भव था। कथानक उनकी दृष्टि में चित्र की रेखाओं के समान था, और अन्य तत्व रंगों की तरह थे, जो चित्र में सुन्दरता भरते हैं, किन्तु अनिवार्य नहीं हैं।

अनेक प्रसिद्ध कहानियों का प्राण-आधार कथानक रहा है; उदाहरण के लिए, मोपासाँ की कहानी 'हार' (The Necklace) अथवा ओ० हैनरी (O' Henry) की 'महापुरुषों की भेंट' (The Gift of the Magi) में। इसी प्रकार चेकफ की एक सुपरिचित कहानी पूर्णतया कथानक पर निर्भर है।

एक डाक्टर एक ग़रीब वृद्धा के पुत्र को नीरोग करता है। कृतज्ञता से विह्वल होकर वे उसे एक अमूल्य पैतृक सम्पत्ति, सुन्दर नक़्क़ाशी से भरा फूलदान भेंट करते हैं। दुर्भाग्यवश यह फूलदान अकेला ही है, और इसका जोड़ा नहीं है। वे दुखी हैं कि यह सुन्दर भेंट अपूर्ण है, और वादा करते हैं कि इसके साथी को अध्यवसाय से खोजेंगे, और यदि उन्हें कहीं भी वह मिला, तो अवश्य ही जोड़े को पूरा कर देंगे। वे नगर की सब नायाब चीजों की दूकानों में इसे खोजते हैं। लेकिन डॉक्टर इस भेंट से बड़े संकोच में पड़ जाता है। उपहार सुन्दर और कलापूर्ण है, किन्तु किसी भी डॉक्टर को बहुत सतर्क रहना होता है। उसे इस कलाकृति को, जिस पर अनेक सुन्दर, निरावरण आकृतियाँ अंकित हैं, अपने सोने के कमरे में छिपाना पड़ता है। डॉक्टर का एक घनिष्ठ मित्र इसे देखता है और इसकी प्रशंसा करता है। डाक्टर तुरन्त इस भेंट को उसे दे डालता है। यह मित्र भी, जो सम्भ्रान्त, गृहस्थ व्यक्ति है, उपहार से संकुचित होता है। वह इसे एक दूकानदार के हाथ बेच डालता है। एक दिन सुबह-ही-सुबह वह लड़का, जिसे डॉक्टर ने नीरोग किया था, बहुमूल्य फूलदान को हाथ में लिये दौड़ा-दौड़ा आता है, और विजयोल्लास से उसे डॉक्टर के सामने रख देता है! वह कहता है—डॉक्टर! आखिर को हमने फूलदान का जोड़ा ढूँढ़ ही लिया!

समरसेट मौम (Somerset Maugham) चेकफ़ की कला की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से करते हैं: चेकफ़ में...मुझे अपने मन के अनुकूल आत्मा मिली। वह सचमुच चरित्रवान लेखक था, डौस्टोएफ़सकी के समान निर्बन्ध शक्ति नहीं, जो चकित करता है, प्रेरणा देता है, त्रास देता है और उलझन में डालता है; वरन् ऐसा, जिसके साथ घनिष्ठता हो सके।...उसमें प्रसार था और उसका जीवन का ज्ञान प्रत्यक्ष था। (एक लेखक की नोट-बुक)।

मौम (Maugham) तीव्र शब्दों में मोपासाँ की निन्दा करते हैं, यद्यपि एक अतिरिक्त नोट में वह यह भी जोड़ देते हैं कि यह आलोचना उन्होंने अनेक वर्ष पूर्व लिखी थी; और अब फिर से उसे पढ़ने पर वह अनुभव करते हैं कि यह आलोचना न्यायोचित नहीं है! वह लिखते हैं: गी दे मोपासाँ (Guy de Maupassant) चतुर कहानीकार है, और अपने सबसे श्रेष्ठ रूप में प्रभावोत्पादक है—और सचमुच इसी से प्रत्येक लेखक की परीक्षा भी होनी चाहिए, किन्तु उसका जीवन से वास्तविक सम्बन्ध बहुत कम है। जब तक हम उसकी सुपरिचित कहानियाँ पढ़ते हैं, हमारा मन उनमें लगता है, किन्तु वे इतनी

बनावटी हैं कि मैं उनके बारे में सोचना भी नहीं चाहता। उसके पात्र स्टेज के प्राणी हैं और उनकी ट्रैजिडी इसलिए है कि वे मनुष्यों की अपेक्षा कठपुतलियों के समान अधिक व्यवहार करते हैं। जीवन के प्रति दृष्टि, जो उनकी पृष्ठभूमि में है, ठस और भद्दी है। गी दे मोपासाँ की आत्मा पेट-भरे व्यापारी की आत्मा थी। उसके आँसुओं और उसकी हँसी में किसी देहाती होटल के व्यावसायिक कमरे की गंध आती है। चेकफ़ के साथ तो मानो हम कहानी बिल्कुल ही न पढ़ते हों। उनमें कोई प्रत्यक्ष चतुराई नहीं है और हम सोच सकते थे कि ऐसी कहानियाँ कोई भी लिख सकता है, यद्यपि तथ्य यह होता कि कोई और वैसी कहानियाँ लिख नहीं पाता! हम चेकफ़ की कहानियों के लिए पिटा-पिटाया वाक्य 'जीवन का टुकड़ा' नहीं प्रयोग कर सकते, क्योंकि टुकड़ा तो अलग कटा होता है, और इन कहानियों को पढ़ते समय मन पर एक यही प्रभाव नहीं पड़ता। यह एक दृश्य है जो हम उँगलियों के बीच से देखते हैं, और जानते हैं कि यद्यपि हम इसका एक ही अंश देख रहे हैं, इसका प्रसार इधर और उधर भी है।

ऐसी प्रसिद्ध कहानियाँ भी हैं, जो वातावरण अथवा पृष्ठभूमि को आधार बनाती हैं। ब्रेट हार्ट (Bret Harte) की सुप्रसिद्ध कहानी (Luck of Roaring Camp) ('गरजते शिविर का लक') जंगली, अव्यवस्थित पश्चिम का जीता-जागता चित्र खींचती है, जब नई दुनिया अशान्त थी। पो Poe की कहानियाँ बहुत विवरण के साथ भय, आतंक और रहस्य की भावनाओं का अंकन करती हैं। इनमें से कुछ कहानियों में, उदाहरण के लिए The Pit and the Pendulum (कूप और घंटा) में, चरित्र की केवल हल्की-से-हल्की रेखाएँ भर ही हैं। पो शिल्पी था और रेखाओं का स्वामी, किन्तु वीभत्सता, भय और आतंक के प्रति उसके आकर्षण में कुछ अस्वस्थ परमाणु भी थे। भय के ऐसे पल अजगर की मोहक आँखों के समान शिकार को वश में कर सकते हैं, किन्तु इनमें उसे कोई सौन्दर्य्य अथवा आनन्द नहीं मिल सकता!

स्टीविनसन (Stevenson) अपनी कुछ कहानियों में जैसे 'मारखीम' (Markheim) और 'चक्की के विल' (Will of the Mill) में, वातावरण और चरित्र का अद्‌भुत संमिश्रण प्रस्तुत करते हैं। बहुत से आधुनिक लेखकों की कहानियों में, उदाहरण के लिए, डी० एच० लॉरेन्स, आल्डस हक्सले, समरसेट मौम और अर्नेस्ट हैमिंगवे की रचनाओं में हमें थकान, अविश्वास, उदासी और काम-भावनाओं के प्रति अतिशय आकर्षण मिलते हैं।

अल्डिस हक्सले की The Giaconda Smile और हैमिंगवे की The Light of the World ऐसी भावनाओं के उदाहरण स्वरूप हम देख सकते हैं।

गाल्ज़वर्दी की A Stoic के समान कहानियाँ चरित्र के आदम-क़द चित्र-अध्ययन प्रस्तुत करती हैं। ऐसी रचनाओं के लिए पो अथवा वैल्स (Wells) के सीमित कैन्वैस से बड़ा पट आवश्यक हो जाता है। स्वयं वैल्स समय और शून्य, चलते हुए फर्श और ज़ीनों और ऐसे मनुष्यों के सम्बन्ध में जो चुराये हुए रोग के कीटाणु नगर के जलाशयों में डालकर मानवता को नष्ट करना चाहते थे, कहानियाँ लिखते थे।

चरित्र के विकास के लिए कभी-कभी बहुत बड़ी कैन्वैस की आवश्यकता पड़ती है। शरद् बाबू की रचना 'बिन्दो का लल्ला' कहानी की अपेक्षा संक्षिप्त उपन्यास बन गई है। हैनरी जेम्स (Henry James) अपने चरित्र-चित्रों में बहुत-सा अनावश्यक, अनर्गल मसाला भर देते थे। हैनरी जेम्स की कहानियों के संबन्ध में शोन ओ' फ़ाउलेन लिखते हैं : वे हमें ऐसा अनुभव कराती हैं कि सुनहरी, फुँदनेदार और लम्बी, लटकती दुमवाला, बहुत भड़कीला कोट पहने और पिंडलियों पर सफ़ेद, रेशमी वस्त्र कसे कोई बड़ा रौबीला व्यक्ति चाँदी की विशाल 'ट्रे' में रखे सुकुमार चीनी के बर्तनों में सुगन्धित चाय लिये चला आ रहा है। वह हमें बहुत अधिक बताता है, यानी, उसके पास अप्रत्यक्ष निदर्शन की शक्ति है ही नहीं।

'वास्तविक वस्तु' (The Real Thing) में हैनरी जेम्स मानव चरित्र का अत्यन्त मर्मस्पर्शी और वेदनापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। और इसके हेतु उन्होंने कैन्वैस का छोटा-सा टुकड़ा ही लिया है। एक चित्रकार के द्वार पर बहुत शालीन दंपति आते हैं। वे मेजर और श्रीमती मौनर्क हैं। वे अपना चित्र खिंचवाने नहीं आए हैं, जैसी कि चित्रकार ने आशा की थी। वे मुसीबत के मारे 'माडेल' (model) की हैसियत में काम खोज रहे हैं। कलाकार पत्रिकाओं की कहानियों में उच्च वर्ग के जीवन को चित्रित करने के हेतु उन्हें नौकरी दे देता है, लेकिन सभी कोई उच्च स्तर से उसके पतन की शिकायत करते हैं। एक दिन मौनर्क दंपति देखते हैं कि उनके स्थान पर कलाकार के घर के नौकर 'मॉडेल' नियुक्त हो गए हैं। पाठक वर्ग ब्रिटिश अभिजातीय जीवन के प्रतिनिधि रूप में उनके यौवन और सौन्दर्य के चित्र अधिक पसंद करता है। मौनर्क दंपति घर के नौकरों का कार्य सम्हाल लेते हैं।

टैगोर की कहानी 'विचारक' में समाज के एक स्तंभ के चरित्र पर पारदर्शी दृष्टि डाली गई है। यह जीवन की अत्यन्त सूक्ष्म झलक में ही हुआ है। जज ने उसी दिन एक स्त्री को मृत्यु-दण्ड का फ़ैसला सुनाया था। शाम को टहलते हुए वह इस स्त्री को एक संतरी से बुरी तरह झगड़ते हुये देखता है। संतरी ने उसका कोई प्रिय आभूषण चुरा लिया था। जज को स्त्रियों की मूर्खता और लोलुपता पर हँसी आती है। इस स्त्री को मृत्यु-दण्ड मिल चुका है, फिर भी वह एक नौकर से ज़रा से आभूषण के लिये लड़-झगड़ रही है, जो आज नहीं तो कल उसे त्यागना ही पड़ेगा। इस प्रकार विचारक अपने मन में सोचता है। वह संतरी से आभूषण ले लेता है, किन्तु अँगूठी में जड़े छोटे-से चित्र में अपनी विद्यार्थी-काल की आकृति पहचान कर बहुत चौंकता है। वह स्त्री के मुँह की ओर घूरता है और इन रेखाओं में अपने तरुण जीवन का एक प्रिय मुख पहचान लेता है। सौभाग्यवश लम्बी मूँछ और दाढ़ी उसकी अपनी रक्षा करती हैं। इस पिछले काल में वह एक शक्तिसंपन्न, समर्थ अधिकारी व्यक्ति हो गया था, और स्त्री का पतन होता गया था। अब वह पाप और कुकर्म के अपने जीवन का अन्त कर रही थी। अनायास ही जज को लगा कि वह स्त्री विचारक के आसन पर बैठी थी और उसे दण्ड का फ़ैसला सुना रही थी, और वह अपराधी की अवस्था में खड़ा उस दण्ड की आज्ञा को सुन रहा था। वह स्वयं नीच, पामर और लोलुप था, किन्तु वह मृत्यु पर्यन्त अपने प्रेम के प्रति सच्ची रही थी।

अपनी अन्य सुपरिचित कहानियों में भी, 'काबुलीवाला', 'मास्टर मोसाई' अथवा 'नयंजोर के बाबू' में टैगोर हमें मानव स्वभाव और जीवन की मर्म-स्पर्शी झलक देते हैं, यद्यपि कहानियों में वे छोटा-सा कैन्वैस ही लेते हैं। मोपासाँ अपनी सुप्रसिद्ध कहानी, 'बूल द स्विफ़' में, अथवा गाल्ज़वर्दी 'पराजय' (Defeat) और 'वृद्ध परी' (The Grey Angel) में हमें चरित्र के इतने ही 'वेग से खींचे हुए' स्नैप-शॉट देते हैं। प्रेमचन्द भी मानव चरित्र के उदात्त रूपों का निरूपण अपनी कहानियों में करते हैं, यह 'पंचपरमेश्वर', 'नमक का दारोगा' आदि कहानियों से स्पष्ट है।

समरसेट मौम अपनी एक बहुत प्रसिद्ध कहानी में उपनिवेशों में रहनेवाले एक अँग्रेज का चित्र खींचते हैं। इस अँग्रेज की जीवन-विधि बहुत नखरीली थी। यद्यपि वह घर से हज़ारों मील दूर है, फिर भी हर शाम भोजन के अवसर पर वह निर्दोष रूप से वस्त्र पहनता है, उसके पास कई मास के 'टाइम्स' इकट्ठे आते हैं, किन्तु वह उन्हें तिथि के अनुसार लगाकर नित्य एक खोलकर पढ़ता

है। इस प्रकार अगली डाक के आने तक वह एक अखबार रोज़ पढ़ता है, और किसी लंदन-निवासी अँग्रेज के समान ही दिन-प्रति-दिन घटनाओं का अनुसरण करता है। मौम औपनिवेशिक शासक वर्ग की संकीर्ण मनोवृत्ति पर व्यंग करते हैं। किन्तु उसके सदस्यों के व्यक्तिगत दयालुता, कृपा-भाव और अनुभूतियों की प्रशंसा भी करते हैं। कला और टेकनीक की दृष्टि से मौम की कहानी अनुपम कृति है, क्योंकि वह बाहरी खोल के पीछे छिपी मानवीय वृत्तियों को समझने में सफल हुए हैं, और अपने छोटे-से हाथी-दाँत के टुकड़े पर उन्होंने अनुपम कला-शिल्प से नक्काशी की है।

इस प्रकार कहानी को परखने के लिए कोई अटल नियम नहीं बनाये जा सकते। इसकी लम्बाई भिन्न कलाकारों के साथ भिन्न है, और इसका आग्रह एक आवश्यक कला-तत्व से दूसरे पर हटता रहता है, और कभी-कभी सभी तत्वों पर—कथानक, चरित्र और पृष्ठभूमि पर—समान रूप से बराबर भी बँटा रहता है। यह सब कलाकार की भावना और प्रतिभा और उसकी कला के लक्ष्य के अनुरूप होता है। ऐसी श्रेष्ठ कहानियाँ हम पाते हैं, जिनमें किसी मर्मवेधी घटना का वर्णन रहता है, जैसे मोपासाँ की कहानी में नक़ली हार का, अथवा ओ० हैनरी की कहानी में घड़ी और बालों के निष्फल बलिदान का। ऐसी भी उत्कृष्ट कहानियाँ हैं, जिनका समग्र आग्रह चरित्र अथवा वातावरण के प्रति है। किन्तु यह स्वाभाविक ही है कि पहली श्रेणी की अपेक्षा इस श्रेणी में हमें उच्च कोटि की कहानियाँ कहीं अधिक मिलें। घटनाओं और परिस्थितियों का मूल्य मानवीय चरित्र अथवा जीवन के किसी हृदयग्राही गुण को मूर्त्त करने में ही है। जैसे-जैसे कहानी का विकास हुआ है, उसके शुद्ध कथा के गुण का महत्व घटता चला गया है, और यह अनिवार्य था। आधुनिक कहानी अधिकाधिक वातावरण और सामाजिक पृष्ठ-भूमि पर अपना ध्यान केन्द्रित कर रही है, और कथा अथवा चरित्र के तत्वों का प्रयोग किसी विचार, भावना अथवा जीवन के पक्ष को चित्रित करने के हेतु करती है। पूर्ण और संतुलित कहानी की लोकप्रियता भी अक्षुण्ण रही है, यद्यपि यह अपने तत्वों के विकास और निरूपण के लिए अधिक स्थान और समय की अपेक्षा रखती है।

कहानी कलात्मक अभिव्यक्ति का एक लचकीला और बहुमुखी माध्यम है। परिभाषाओं और व्याख्याओं में इसके चंचल प्राणों को बाँध रखना कठिन है। निरन्तर यह अपने तट की सीमाओं को काटा करती है और पार्श्ववर्त्ती भूमि पर फैलती रहती है। क्या इसे होना चाहिए, और क्या इसे न होना चाहिए, इन

निर्देशों और व्यवधानों से वह सदा बचकर निकल जाती है। हम कह सकते हैं कि कहानी में जीवन की कोई कोमल, सूक्ष्म अनुभूति रहती है, पाठक को वह जीवन की एक मर्मवेधी झलक देती है, और ऐसा वह कथा, पात्रों और वार्त्ता के माध्यम से करती है। यह भी प्रत्यक्ष है कि कहानी संक्षिप्त होती है और जीवन का विविध रूपी, व्यापक अंकन करना उसका लक्ष्य नहीं है। व्यक्तिगत रूप से कथाकार कहानी के एक अथवा दूसरे तत्व को अधिक आग्रह से पकड़ते हैं; किन्तु ऐसा रुचि-वैचित्र्य स्वाभाविक ही है। कुल मिलाकर, कहानी की परम्परागत व्याख्या, 'जीवन का एक खण्ड' काफी संतोषप्रद व्याख्या है, कम-से-कम जो परिभाषाएँ हमें मिलती हैं, उनमें सबसे संतोषप्रद परिभाषाओं में से एक यह भी है।

७

जन-कवि तुलसीदास

संपूर्ण भारतीय जीवन पर तुलसी-साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा है। भारतीय जीवन की आदर्शवादिता, उसकी उदात्त दृष्टि तुलसी-साहित्य की प्रेरणा से पली और विकसित हुई है। हमारे देश का कौन नागरिक ऐसा होगा, जिसकी विचार-धारा पर तुलसी के प्रेममय सन्देश का कुछ-न-कुछ प्रभाव न पड़ा हो? शायद यह कहना अतिशयोक्ति न होगी, कि हमारे देश का कोई अन्य साहित्यिक व्यक्तित्व इस प्रकार हमारे खून और रग-रग में नहीं बस सका है। उत्तर भारत में हम सड़कों और गलियों में और जनपदों में अपढ़-अशिक्षित लोगों से तुलसी के पद निरन्तर सुनते हैं। इसी कारण मैं भी आपके सामने तुलसी-साहित्य के सम्बन्ध में कुछ कहने का साहस कर रहा हूँ।

तुलसीदास भारतीय सन्त-साहित्य की सर्वोत्तम निधि हैं। जिस साहित्यिक परम्परा को सन्त कवियों ने पोषित किया, उसके अन्तर्गत तुलसी के अतिरिक्त सूरदास, कबीर, दादू, नानक आदि अनेक महाप्राण साहित्यिक आते हैं। इन सन्त कवियों ने भारतीय जनता के दुःख से द्रवित होकर साहित्य रचा था, और निरन्तर उनके साहित्य-दर्पण में हम भारतीय जीवन की पीड़ा का प्रतिबिम्ब देखते हैं। जीवन की व्यथा से आकुल होकर सन्त कवियों ने व्यक्तिगत सुख-दुःख की भावना तज दी थी, किन्तु उनका साहित्य सामूहिक जीवन से वैराग्य न ले सका। ब्रह्म की खोज में अनवरत लीन कबीर कहते हैं :

"जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरी सुखी न देखा;
उदै-अस्त की बात कहत हौं, ताकर करौ बिबेखा।
बाटै-बाटै सब कोई दुखिया, क्या गिरही, बैरागी;
सुक्राचार्य दुख ही के कारण, गरभै माया त्यागी।
जोगी दुखिया, जंगम दुखिया, तापस को दुख दूना;
आसा-तृष्णा सब घट व्यापै, कोई महल नहिं सूना।

\+ + + +

यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद परे घुल जाना है;
यह संसार काँट की बाड़ी, उलझ-पुलझ मर जाना है।
यह संसार झाड़ औ झाँखर, आगि लगे बरि जाना है;
कहत कबीर सुनौ भई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है।"

सन्त-साहित्य भारतीय इतिहास की सोलहवीं शताब्दी के लगभग रचा गया। भक्ति-मार्ग की काव्यात्मक अभिव्यक्ति यह सन्त-साहित्य है। भारतीय जीवन की समस्याओं को भक्ति के मार्ग से सुलझाने का यह प्रयास था। सन्त-साहित्य में हम तीव्र सामाजिक चेतना पाते हैं; जीवन की बहुमुखी समस्याओं के प्रति सचेत प्रतिक्रिया निरन्तर इस साहित्य में मिलती है। सामाजिक परिस्थितियों ने सन्त-कवियों के जीवन-दर्शन को प्रभावित किया और उसे दिशा दी।

सोलहवीं शताब्दी में भारतीय जीवन पर मुग़ल शासन का आधिपत्य था। शासक वर्ग समृद्धि, भोग और विलास में डूबा था। किन्तु असंख्य भारतीय जनता के लिये इस शासन-व्यवस्था के पास जीवन की समस्याओं का कोई प्रतिकार न था। इस व्यवस्था को 'एशियाई समाज' कहा गया है। इस समाज-व्यवस्था का विकास ऐतिहासिक कारणों से रुक गया था, और जीवन और गति के लक्षण उसमें बहुत कम रह गये थे। वह समाज व्यवस्था पिरामिड के समान थी, जिस की चोटी पर समृद्धि और श्री के कुछ लक्षण तो हम पा सकते हैं, किन्तु जिसका आधार जनता का दैन्य और दरिद्रता है। इस समाज-व्यवस्था में अंग्रेज़ों के आक्रमण के बाद परिवर्त्तन के चिन्ह प्रकट होते हैं और एक सांस्कृतिक नवजागरण के लक्षण भारतीय जीवन में हम पाते हैं।

भारतीय इतिहास के इस काल-खण्ड में सबसे प्रबल सांस्कृतिक समस्या दो विभिन्न धाराओं के संगम और मिलन की थी। इसी समस्या को कबीर और नानक ने साहसपूर्वक उठाया और उसके सुलझाने का सही मार्ग अपने साहित्य में दर्शाया। तुलसी धर्मभीरु हिन्दू सन्त थे और उनकी मान्यताएँ बड़ी हद तक प्राचीन हिन्दू संस्कारों से प्रभावित थीं, किन्तु तुलसी भी कहते हैं, राम के सामने जात-पाँत नहीं चलती; जो उनका भजन करता है, वही उनका होता है;

"जाति-पाँत जानै नहिं कोई;
हरि को भजै, सो हरि का होई।"

स्वयं अपने सम्बन्ध में तुलसीदास लिखते हैं;

"लोग कहैं पोच, सो न सोच, न संकोच मेरे,
ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं।"

तुलसी-साहित्य लोक-मंगल की भावना से ओत-प्रोत है। सन्त-कवि जन-हित के लिये काव्य-रचना करते थे। उस समय तक 'कला कला के लिये' का सिद्धान्त प्रचलित न था। तुलसीदास कलिकाल के दुःखों से त्राण पाने के लिये राम का नाम प्रचारित करते हैं। 'रामचरित मानस' के सम्बन्ध में तुलसीदास स्वयं कहते हैं :

"राम कथा कलि कामद गाई;
सुजन सजीवन-मूरि सुहाई।
सोइ बसुधा-तल सुधा-तरंगिनि;
भय-भंजनि भ्रम-भेक-भुअंगिनि।
बुध-बिसराम, सकल जन-रंजनि;
राम-कथा कलि-कलुष बिभंजनि।"

'रामचरितमानस' में अनेक स्थलों पर तुलसीदास ने कलिकाल का मर्म-स्पर्शी वर्णन किया है। इन वर्णनों में सामयिक सामाजिक व्यवस्था का स्पष्ट प्रतिबिम्ब हम देख सकते हैं। 'मानस' के उत्तरकाण्ड में तुलसीदास कलिकाल का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

"जो कह झूठ मसखरी जाना;
कलियुग सोई गुनवन्त बखाना।
निराचार जो स्रुति-पथ त्यागी;
कलिजुग सोई ज्ञानी-बैरागी।
जाके नख अरु जटा बिसाला;
सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला।
मारग सोइ, जा कहँ जो भावा;
पंडित सोइ जो गाल बजावा।"

आगे तुलसीदास लिखते हैं :

"तपसी धनवन्त, दरिद्र गृही;
कलि-कौतुक तात न जात कही।
धनवन्त, कुलीन मलीन अपी;
दुज-चिन्ह जनेउ, उघार तपी।
कलि बारहि बार दुकाल परै;
बिनु अन्न दुखी सब लोक मरै।

अबला कच भूषन, भूरि छुधा;
धनहीन, दुखी, ममता बहुधा।
सुख चाहहिं मूढ़, न धर्मरता;
मति थोरि, कठोरि, न कोमलता।
नर पीड़ित रोग, न भोग कहीं;
अभिमान, विरोध अकारन हीं।"

तुलसी-युग में भारतीय जनता अकाल, महामारी आदि व्याधियों से त्रस्त थी, इसका निर्देश हमें अकसर उनके साहित्य में मिलता है। स्वयं अपने शैशव में तुलसीदास दाने-दाने के लिये 'बिललाते' थे। 'कवितावली' में आपने लिखा है :

"बारे ते ललात, बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।"

काशी नगरी में महामारी का बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन तुलसीदास ने 'कवितावली' में किया है :

"संकर-सहर सर, नारि, नर बारिचर
बिकल सकल, महामारी, माया भई है;
उछरत, उतरात, हहरात, मरि जात,
भभरि भगात, जल-थल मीचु मई है।
देवन दयाल महिपालन कृपाल चित
बारानसी बाढ़त अनीति नित नई है;
पाहि रघुराज, पाहि कपिराज, राम-दूत,
राम हू की बिगरी तु ही सुधारि लई है।"

अन्य स्थान पर भी तुलसीदास ने काशी की महामारी का वर्णन किया है :

"बीसी बिस्वनाथ की, विशाद बड़ो बारानसी,
बूझिए न ऐसी गति संकर-सहर की।"

अथवा,

"एक तो कराल कलिकाल, सूल-मूल ता में,
कोढ़ में की खाज-सी सनीचरी है मीन की।"

तुलसी-युग की इसी विभीषिका के प्रति एक अंग्रेज़ी लेखक Saunders ने अपनी पुस्तक "A Pageant of India" में लिखा है : "जो शासक

अकबर से पहले आये थे, और उनके उत्तराधिकारियों के बारे में हम एक प्राचीन चीनी देशभक्त के शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं, जिसने अपने समय के शासकों के लिये कहा था : "उनके रसोईघरों में बढ़िया गोश्त है, उनके अस्तबलों में मोटे घोड़े हैं; किन्तु जनता भूखी है, और खेतों में मृतकों के भूख के मारे हुए शव पड़े हैं।"

जीवन की इन्हीं विडम्बनाओं के प्रति तुलसीदास की स्वाभाविक प्रतिक्रिया उनका साहित्य है। उनकी काव्य-प्रेरणा का यही स्रोत है। राम-नाम का महापोत इसी दुःख के भव सागर को पार करने के लिए उन्होंने तैयार किया था।

तुलसीदास जी की साहित्यिक प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होंने अपने जीवन-अनुभव को विभिन्न साहित्यिक शैलियों में व्यक्त किया। उन्होंने उसे महाकाव्य का रूप दिया और बार-बार गीत, कवित्त, सवैया, दोहे, चौपाई आदि में सजाया। गीतावली, कवितावली, विनय-पत्रिका रामचरितमानस आदि विविध रूप उन्होंने अपनी प्रेरणा को दिये। किन्तु मुख्यतः तुलसी महाकाव्यकार के रूप में अपना स्थान साहित्य में लेते हैं। एक कवि ने कहा है कि वाल्मीकि ही कलिकाल में तुलसी के रूप में प्रकट हुये थे : "कलि कुटिल जीव निस्तार हित, वाल्मीक तुलसी भयौ।"

'निराला' जी अपनी रचना "तुलसीदास" में कहते हैं :

> **"देश काल के शर से बिंध कर**
> **यह जागा कवि अशेष-छवि धर**
> **इसका स्वर भर भारती मुखर होएँगी;**
> **निश्चेतन, निज तन मिला विकल**
> **छलका शत-शत कल्मष के छल**
> **बहतीं जो, वे रागिनी सकल सोएँगी।"**

'रामचरितमानस' में हमें जीवन का सर्वांगीण चित्र मिलता है। इतनी बड़ी पटभूमि भारतीय साहित्य में हमें वाल्मीकि की रामायण और महाभारत के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलती। इस महाकाव्य में हम जीवन का चित्र-विचित्रित वर्णन पाते हैं, हर्ष-विषाद और सुख-दुःख के अमूल्य चित्र, विरह-मिलन, जन्म-मृत्यु, जय-पराजय, प्रकृति का नित-नूतन, चिर-नवीन रूप—जीवन का सभी अनुभव इस अमर काव्य में मानो कवि ने संग्रह किया है। आदर्श राजा कैसा हो, प्रजा में क्या गुण हों, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, छोटे-बड़े भाई, स्वामी और सेवक

के क्या संबन्ध हों, सभी समस्याओं पर तुलसीदास जी ने युग-धर्म के अनुरूप प्रकाश डाला है। तुलसीदास जी ने उच्च आदर्शों की कल्पना अपने साहित्य में प्रतिष्ठित की है, और उनके पात्र इन ऊँचे सिद्धान्तों के प्रतीक हैं। तुलसीदास की दृष्टि मूलतः मानवतावादी दृष्टि है, यह उनके अमर पात्रों से स्पष्ट है। तुलसी के पात्र भारतीय जनता के हृदय के हार बन गए हैं; जो स्थान यह पात्र भारत की चेतना में पा चुके हैं, वह अन्य किसी साहित्यकार के पात्रों को मिलना दुर्लभ है।

'मानस' के प्रमुख पात्र राम हैं। राम आदर्श पुत्र, पति, भाई, शिष्य और राजा हैं। उनके अपूर्व त्याग की कथा हमारे देश का बच्चा-बच्चा जानता है। क्षण भर में बिना माया-मोह के राजपाट त्याग कर राम वन को चले गये। तुलसी ने यह अपूर्व पितृ-भक्ति अपनी कथा में प्रतिष्ठित की है। राम के बिछोह से दशरथ ने अपने प्राण त्याग दिये। सीता और लक्ष्मण ने भी राम के साथ वन की राह ली। भरत ने राम की पादुका सिंहासन पर रख कर चौदह वर्ष राज्य का कार्य चलाया। इस अनमोल कथा पर तुलसी का पाठक और श्रोता सदियों और पीढ़ियों से चला है। अनेक ऐसे व्यक्ति भी हैं, जिन्होंने न तुलसी को कभी पढ़ा है, न सुना है, किन्तु जो राम, भरत, सीता और लक्ष्मण की आदर्शवादिता से किंवदंतियाँ सुन कर ही प्रभावित हुए हैं, और जिन्होंने इन पात्रों के संस्पर्श से अपने जीवन को उन्नत और समृद्ध बनाया है। 'मानस' के पात्र हमारे देशवासियों की कल्पना में गहरा स्थान बना चुके हैं और हमारे रोम-रोम में बस गये हैं। किसी और साहित्यिक ग्रन्थ ने जनता के हृदय को इतना प्रभावित किया हो इसका उदाहरण मिलना कठिन है। मानव इतिहास में केवल धर्म-ग्रन्थों ने ही जनता के हृदय को इस प्रकार प्रभावित किया है।

'रामचरितमानस' के पद जीवन के हर्ष और विषाद के क्षणों में हमें निरन्तर याद आते हैं। वह हमारे संस्कारों का अंश बन गये हैं। उन्हें भारतीय जनता शिक्षा के रूप में ग्रहण करती है और उनके आलोक में अपनी जीवन-दिशा निर्धारित करती है। अनायास ही अनेक पद हम याद करते हैं :

"जे न मित्र दुख होहिं दुखारी,
तिनहिं बिलोकत पातक भारी।"
"प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं?"
"आवत ही हरषै नहीं, नैनन नहीं सनेह;
तुलसी तहाँ न जाइए, कंचन बरसै मेह।"

भारत के मानस में तुलसी की अमूल्य वाणी इस प्रकार बस गई है कि पग-पग पर वह हमारे श्वास से प्रकट होती है।

'रामचरितमानस' के कथानक में अनेक ऐसे मर्मस्पर्शी स्थल हैं, जिनसे तुलसी का पाठक बहुत प्रभावित होता रहा है। यह स्थल हैं—राम का बाल्य-काल, राम आदि भाइयों का रूप-वर्णन, जनकपुरी का वर्णन, पुष्पवाटिका और स्वयंवर सभा का वर्णन, प्रकृति वर्णन, सेनाओं का वर्णन, लक्ष्मण की संज्ञा-शून्यता पर राम का विलाप, राम का अवधपुरी में आगमन। 'रामचरितमानस' में निरन्तर ऐसे स्थल आते हैं, जहाँ कवि ने पूर्ण तन्मयता से दृश्य, घटना अथवा व्यक्ति का चित्रण किया है और इसीलिये वह पाठक का मर्म बेधने में सफल हुआ है।

सीता के मुख की तुलना कवि ने चन्द्रमा से की है, किन्तु चन्द्रमा सीता के मुख की तुलना में हीन है। कवि की यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है :

"जनम सिंधु, पुनि बंधु विष, दिन मलीन सकलंक;
सिय-मुख समता पाव किमि, चन्द बापुरो रंक?
घटइ, बढ़इ, बिरहिनि दुखदाई,
ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई।
कोक-सोक-प्रद, पंकज-द्रोही;
अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही॥"

कौशल्या सीता के वन-गमन की बात से व्यथित होकर सोचती हैं :

"मैं पुनि पुत्र-बधू प्रिय पाई;
रूप-रासि, गुन-सील-सुहाई।
नयन-पुतरि करि प्रीति बढ़ाई;
राखहुँ प्रान जानकिहिं लाई।
कलप-बेलि जिमि बहु बिधि लाली;
सींचि सनेह-सलिल प्रतिपाली।
पलंग-पीठ तजि गोद हिंडोरा;
सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।
जिवन-मूरि जिमि जुगवत रहऊँ;
दीप-बाति नहिं टारन कहऊँ।
मानस-सलिल-सुधा-प्रतिपाली;
जिअइ कि लवन-पयोधि मराली?"

राम भी वन के कष्टों को सोचते हैं और चिन्तित होते हैं :

"कानन कठिन, भयंकर भारी;
घोर घाम, हिम, बारि, बयारी।
कुस, कंटक, मग, कंकर नाना;
चलब पयादेहिं बिनु पद-त्राना।
कंदर, खोह, नदी, नद, नारे,
अगम, अगाध, न जाहिं निहारे।
भालु, बाघ, बृक, केहरि, नागा;
करहिं नाद, सुनि धीरज भागा।"

प्रकृति के, मानव स्वभाव के, जीवन के विविध रूपों के अपूर्व वर्णन हमें तुलसी-साहित्य में मिलते हैं। इनके पारस-स्पर्श से भारतीय जनता ने अपने मानस को निखार कर कंचन बनाया है। तुलसी की रामायण ने भारत के जन-मन में आदर्शवादिता कूट-कूट कर भर दी है।

प्रकृति के अनेक रूपी वर्णन हम 'रामचरितमानस' में और अन्यत्र भी पाते हैं। 'मानस' का वर्षा और शरद् वर्णन सुपरिचित और लोकप्रिय है। वर्षा में राम सीता के विरह से व्याकुल होकर कहते हैं :

"घन घमंड नभ गरजत घोरा;
प्रिया-हीन डरपत मन मोरा।
दामिनि दमकि रही घन माँहीं;
खल की प्रीति यथा थिर नाहीं।
बरषहिं जलद भूमि नियराए;
जथा नवहिं बुध बिद्या पाए।
सिमिटि-सिमिटि जल भरइ तलावा;
जिमि सतगुन सज्जन पहँ आवा।"

'अरण्य काण्ड' में वन का वर्णन बहुत सुन्दर और सजीव है :

"विकसे सरसिज नाना रंगा;
मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा।
बोलत जल-कुक्कुट कल हंसा;
प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा।
चक्रवाक, बक, खग समुदाई;
देखत बनै, बरनि नहिं जाई।
सुन्दर खग गण गिरा सुहाई;

जात पथिक जनु लेत बुलाई।
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाए,
चहुँ दिशि कानन विटप सुहाए।
चम्पक, बकुल, कदम्ब तमाला;
पाटल, पनस, पलास, रसाला॥
नव पल्लव कुसुमित तरु नाना;
चञ्चरीक पटली कर गाना।
सीतल, मन्द, सुगन्ध सुभाऊ;
सन्तत बहै मनोहर बाऊ।
कुहू-कुहू कोकिल धुनि करहीं;
सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं।"

'विनय पत्रिका' में तुलसीदास चित्रकूट का वर्णन करते हैं :

"अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि, लोपित मंगल-मगु,
बिलसत बढ़त मोह माया-मलु;
भूमि बिलोक राम पद-अंकित,
बन बिलोकि रघुबर-बिहार-थलु।
शैल-शृङ्ग भव-भंग-हेतु लखु,
दलन कपट, पाखंड, दंभ-दलु;
न करु बिलम्ब, बिचारु चारु मति,
बरष पाछिले सम अगिले पलु।"

इस प्रकार तुलसी साहित्य में हम जीवन का विविधरूपी, व्यापक चित्रण पाते हैं। उसकी दृष्टि जीवन के व्यापारों पर उनकी समग्रता में पड़ती है; अपने साहित्य में संपूर्ण मानव जीवन का सार मानो कवि ने संजो कर रखने का प्रयास किया है। महाकाव्यकार के रूप में यही तुलसी की सफलता है। जीवन का विराट्, व्यापक और संश्लिष्ट चित्रण हम उनकी कृति में पाते हैं। हर्ष-विषाद, मिलन-विरह, जन्म-मरण, विकास और क्षय, जय और पराजय सभी मानव-अनुभूतियों के अनुरंजित चित्र तुलसी-साहित्य हमें देता है। कवि ने इन जीवन-व्यापारों पर अपनी व्यापक, मानवतावादी दृष्टि डाली है और अपने वर्णन से पाठक का मानस उन्नत, समृद्ध और परिष्कृत बनाया है। शताब्दियों से वायु और जल की भाँति तुलसी का साहित्य भारतीय जनता के मन और हृदय को

पोषित करता रहा है। हम कह सकते हैं कि आज जो कुछ भी भारतीय जीवन में उन्नत और विशाल है, उसे पोषित करने में तुलसी की परम्परा का मूल्यवान अंश है।

तुलसी ने 'कलि-मल-दहन' के लिये काव्य-रचना की। राम-नाम को उन्होंने सब व्याधियों के लिए अमोघ अस्त्र समझा और अपने 'मानस' द्वारा घर-घर इसका प्रचार किया। उन्होंने देव-भाषा संस्कृत को त्याग कर जन-भाषा नागरी में काव्यरचना की, क्योंकि वह समाज के ऊँचे स्तरों तक ही अपना संदेश सीमित न करना चाहते थे। जन-भाषा हिन्दी में लिखने के कारण ही तुलसी के साहित्य का इतना व्यापक प्रचार और प्रसार हो सका। तुलसी के प्रसिद्ध रूसी अनुवादक, बरानिकॉफ, तुलसी की भाषा को उनके काव्य का एक मुख्य, जनवादी तत्व मानते हैं।

प्राचीन कवि 'भाषा' को राम-चर्चा के लिये उपयुक्त नहीं समझते थे। तुलसी ने राम की कथा को देवलोक से पृथ्वी पर उतारा। तुलसी कहते हैं :

"कवि कोविद अस हृदय बिचारी;
गावहिं हरि-गुण कलिमल हारी।
कीन्हे प्राकृत जन गुण गाना ;
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।"

तुलसीदास कलिकाल के उन कवियों को प्रणाम करके आगे बढ़ते हैं जिन्होंने 'प्राकृत' में 'हरि-चरित' वर्णन किया है :

"कलि के कविन करहुँ परनामा;
जिन बरने रघुपति गुन-ग्रामा।
जे प्राकृत कवि परम सयाने;
भाषा जिन हरि चरित बखाने।"

तुलसी ने जन-सुलभ भाषा का प्रयोग किया, क्योंकि अपने साहित्य की सामाजिक उपादेयता में उन्हें विश्वास था। तुलसी जनता के कवि थे और उसी के हित में काव्य-रचना कर रहे थे। जो साहित्यिक जनता के समीप पहुँचना नहीं चाहते और ऊपरी स्तरों के मनोरंजन के लिए लिखते हैं, वही भारी-भरकम, बोझिल भाषा का प्रयोग करते हैं।

तुलसी की भाषा जो सहज-स्वाभाविक है और इसके अवयवों में अनन्य माधुरी और सौन्दर्य भी कूट-कूट कर भरा है। इसका कारण कवि की सच्ची अनुभूति और जीवन-व्यथा है। तुलसी कहते हैं :

"का भाषा, का संस्कृत, बिभव चाहिए साँच;
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाँच।"

तुलसी की भाषा के सौन्दर्य्य पर बहुत-कुछ कहा जा सकता है। "राम-चरितमानस' के मार्मिक स्थल अपनी भाषा-माधुरी के कारण ही हमारे मन को इतना प्रभावित करते हैं। पुष्पवाटिका में राम और सीता के मिलन का वर्णन सुप्रसिद्ध है :

"कंकन-किंकिन—नूपुर—धुनि—सुनि;
कहत लषन सन राम हृदय गुनि;
मानहुँ मदन दुदुभी दीन्ही;
मनसा विस्व-विजय कहँ कीन्ही।
अस कहि फिरि चितए तिहि ओरा;
सिय-मुख ससि भए नयन चकोरा।"

अथवा 'कवितावली' में राम के रूप का वर्णन देखिए :

"पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि,
मंजु बनी मनि माल हिए;
नव नील कलेवर पीत झगा,
झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिए;
अरबिंद—सो आनन रूप मरंद,
अनन्दित लोचन—भृंग पिए;
मन में न बस्यो अस बालक जो,
तुलसी जग में फल कौन जिए ?"

आगे चल कर,

"तन की दुति स्याम सरोरुह;
लोचन कंज की मंजुलताई हरैं;
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे,
छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं;
दमकैं दुतियाँ दुति दामिनि ज्यौं,
किलकैं कल बाल-बिनोद करैं;
अवधेस के बालक चारि सदा,
तुलसी मन-मन्दिर में बिहरैं।"

इसी मीठी, जन-सुलभ स्वाभाविक शब्दावली में तुलसी ने निरन्तर अपनी अमूल्य सीख भारतीय जनता को दी है, और वह अनायास ही भारत के मानस में घर कर सकी। तुलसी-साहित्य में हमें सहस्रों सूक्तियाँ मिलती हैं, जो जीवन की समस्याओं पर सहज प्रकाश डालती हैं, और पाठक के दृष्टिकोण को समृद्ध और उन्नत बनाती हैं।

तुलसी मीठे वचन बोलने की सीख देते हैं :

"तुलसी मीठे बचन तें, सुख उपजत चहुँ ओर;
बसीकरन इक मन्त्र है, परिहरु बचन कठोर"

पग-पग पर इसी प्रकार की उक्तियाँ हमें तुलसी की रचना में मिलती हैं :

"राम काम-तरु परिहरत सेवत कलि-तरु ठूँठ;
स्वारथ परमारथ चहत, सकल मनोरथ झूँठ।"
"मुख मीठे, मानस मलिन, कोकिल, मोर, चकोर;
सुजस-धवल चातक नवल, रह्यो भुवन भरि तोर।"

अथवा

"पर हित लागि तजइ जो देही;
संतत संत प्रसंसहिं तेही।"

ऐसी सरल, मीठी और स्वाभाविक भाषा में तुलसीदास ने अपने अपार जीवन-अनुभव और विचार-दर्शन को व्यक्त किया है, और वह अनायास ही भारतीय जनता की दीर्घ जीवन-यात्रा में उसका चिर-संगी बन गया है। तुलसी के दर्शन ने अपनी एकांगिता और सीमाओं के बावजूद भारतीय जीवन की अनन्त यात्रा को सुफल और आसान बनाया है, इसे सभी को मुक्त कंठ से स्वीकार करना होगा।

———o———

सूर-साहित्य

सूर-साहित्य के सामाजिक महत्व को समझने के लिए हमें भक्ति-आन्दोलन की भूमिका समझनी होगी। एक विशेष राजनीतिक-सामाजिक पृष्ठभूमि में भक्ति-आन्दोलन का उत्थान हुआ। उस काल की सामाजिक व्यवस्था के तल में ऐसे भूमि-संबंध थे, जो अनेक साम्राज्यों के उलट-फेर और विदेशी आक्रमणों के प्रभाव से भी अछूते रहते थे। मध्यकालीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की आधार-भूमि ग्राम-पंचायतें थीं जिनके संगठन में बँधी जनता कह सकती थी : 'कोउ नृप होउ हमें का हानी, चेरी छाँड़ि न होउब रानी!' इसी कारण मध्ययुग में ही हम यह देख सकते थे कि एक ओर तो साम्राज्य पर आधिपत्य के लिए युद्ध हो रहा है, किन्तु पास ही खेत में किसान हल चला रहा है! ग्राम-पंचायतों के कारण मध्य-कालीन भारत के मुख पर एक स्थिर, अविचल भाव है; उसे लगता है कि यह संसार कभी बदल न सकेगा!

किन्तु मध्यकालीन भारतीय समाज में इतिहास आधारभूत परिवर्त्तनों की माँग कर रहा था। एक ओर स्वावलम्बी ग्राम-पंचायतें और दूसरी ओर सतत परिवर्तनशील साम्राज्यवादी शक्तियाँ—यह नक्शा भारतीय जनता के हित में न था। उद्योग-धंधों, व्यवसाय और व्यापार के विकास के लिए स्वावलम्बी ग्राम-पंचायतों का टूटना आवश्यक था; आर्थिक विकास स्वावलम्बन से विशेष उत्पादन की दिशा में होता है। उत्पादन की इस पिछड़ी हुई पद्धति के साथ मध्य-कालीन भारतीय जनता को वैभव-संपन्न साम्राज्यों का भार भी वहन करना होता था। मध्यकालीन भारतीय समाज में दैन्य, ग़रीबी, महामारी और अकाल का प्रकोप रहता था। मुग़ल सम्राटों के वैभव और विलास के नीचे त्रस्त जनता का रुदन और क्रन्दन निरन्तर उठ रहा था। कबीर कहते हैं :—

"जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरि सुखी न देखा!"

भक्ति-काव्य की आधारभूत दृष्टि यही है। उसकी अन्तर्प्रेरणा भारतीय जन-समाज की इसी पीड़ा से फूटी है। यह संसार असार है; यहाँ सभी को निरन्तर

दुःख के पहाड़ ढोने होते हैं। यह शरीर सब व्याधियों की जड़ है! भक्त कवि इस भव-बंधन को काटने के लिए राम-नाम की शरण लेते हैं। वे प्रेम की सीख देते हैं। प्राणि-मात्र से प्रेम करो; प्रेम के पोत में बैठकर भक्त-जन भव-सागर को अनायास ही पार कर सकते हैं। भक्त-कवियों ने जग के दुःख-सुख और चिन्ताओं से त्राण पाने के लिए प्रेम-काव्य की अखंड सरिता बहाई, जिसके स्पर्श से आज भी मनुष्य का हृदय उज्ज्वल और उसकी भावनाएँ उन्नत होती हैं।

भक्ति-काव्य में अनेक अन्तर्विरोध हैं। मूलतः वह मानवतावादी काव्य है। मनुष्य के दुःखों को दूर करने के लिए तुलसी ने अपना 'मानस' रचा था। जन-हित इस काव्य का मूल मन्त्र है। जनता की भाषा में जनता की शिक्षा के लिए उसका सृजन हुआ था। किन्तु भक्ति-काव्य परलोकमुखी काव्य भी है। उसकी शिक्षा इस संसार को भुलाने की दिशा में है। 'यह सब जग मिथ्या है; माया-जाल है! इसे तोड़ कर प्रभु की शरण लो!' भक्त कवि भारतीय जनता को राम-नाम का मधु-मरहम भव-पीड़ा से त्राण पाने के लिए अर्पित करते थे।

भक्त-कवियों में तुलसी और कबीर के काव्य का सामाजिक तत्व प्रत्यक्ष है। तुलसी ने कलि-काल की व्याधियों से जनता को मुक्त करने के लिए 'मानस' की रचना की। निरन्तर उन्होंने कलि-काल में मनुष्य की दुर्दशा के मर्मस्पर्शी चित्र खींचे हैं:

"कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥
नहिं कलि कर्म भक्ति विवेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥"

एक अन्य कवि ने भी लिखा है:

"कलि कुटिल जीव निस्तार हित, वाल्मीक तुलसी भयौ।"

कबीर की विद्रोही आत्मा की स्पष्ट छाप उनके काव्य पर है। निरन्तर उन्होंने पाखण्ड, मिथ्याचार और रूढ़ियों का विरोध किया। धर्म के आडम्बर, पंडों और महन्तों का उन्होंने तिरस्कार किया और निर्मल, निश्छल जीवन का आह्वान किया।

इसी परम्परा के कवि सूर भी हैं। उनका काव्य मूलतः जग के छल-छन्दों और व्याधियों से मुक्ति पाने के लिए लिखा गया था और प्रेम उनके काव्य का केन्द्रीय विषय है। सूर ने ईश्वर को मनुष्य के रूप में देखा और उसी रूप में उसका वर्णन किया। सूर के कृष्ण मध्य-युगीन भारतीय मानव के प्रतीक हैं और प्रेम का सन्देश उनकी संपूर्ण कथा का जीवन-प्राण है। प्रेम की गहरी नदिया

में डूब कर मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है; अपने को मिटा कर वह बन सकता है! सूर के काव्य का केन्द्र-बिन्दु यही है।

ऊँच-नीच के भेद, जाति-कुल के भेद सब ईश्वर की दृष्टि में नगण्य हैं। राव और रंक सभी उसके सामने बराबर हैं :—

"राम भक्त-वत्सल निज बानो।
जाति, गोत, कुल नाम गनत नहिं, रंक होय कै रानो।"

अथवा

"काहू के कुल तन न विचारत।
अविगत की गति कहत न आवै, व्याध अजामिल तारत।"

तुलसी के समान ही सूर भी इस घोर कलि में 'हरिनाम' को एक मात्र आधार मानते हैं। जप, नियम, तप और तीर्थ सभी से अधिक महिमा भक्ति और प्रेम की है :

"जो सुख होत गोपालहिं गाए।
सो नहि होत जप तप के कीने, कोटिक तीरथ न्हाए!"

तुलसी से भी अधिक मात्रा में सूर के काव्य का विषय मानव है। तुलसी के राम तो स्वामी हैं, प्रभु हैं; किन्तु सूर के कृष्ण सखा हैं। कृष्ण-कथा मूलतः मानव-जीवन की कथा है, यद्यपि बीच-बीच में भागवत पर आधारित होने के कारण इसमें अनेक अद्भुत और चमत्कारी स्थल भी हैं।

'सूरसागर' में विशेष रूप से कृष्ण की बाल-लीला और प्रेम-लीलाओं का वर्णन है। मनुष्य के शैशव और यौवन अवस्थाओं का इन लीलाओं के माध्यम से विस्तृत और सारगर्भित वर्णन हुआ है। आधुनिक दृष्टि से इन लीलाओं के कुछ वर्णन अश्लील भी कहे जा सकते हैं, किन्तु मध्यकालीन साहित्यिक परम्परा में भक्त-कलाकार अपने प्रेम के प्रवाह में प्रभु के सभी क्रिया-कलापों का अक्षरशः वर्णन करते थे। प्राचीन मन्दिरों की नक़्क़ाशी में अथवा जयदेव, विद्यापति और सूर के श्रृंगार-स्थलों का रहस्य यही है। श्रृंगार के प्रति हमारे पूर्वजों की दृष्टि में कोई वर्जनाएँ न थीं; उनकी दृष्टि स्वस्थ, मांसल दृष्टि थी। भक्त-कवियों का श्रृंगार-काव्य रीतिकालीन काव्य की भाँति काम-भावनाओं का उद्दीपन नहीं करता; वह मनुष्य की स्वाभाविक अवस्थाओं का स्वाभाविक वर्णन करता है।

सूर की दृष्टि स्वच्छ, निर्मल और उदात्त दृष्टि है। प्रेम-वेदना का गहरा और गंभीर वर्णन 'आँधरे' सूर ने किया है। प्रेमी अपने प्रेम के लिए घुल-घुल कर जलता और मरता है; प्रेम करके कभी किसी को सुख नहीं मिला। इस प्रकार मनुष्य-जीवन के व्यापारों के प्रति कवि की विगलित करुणा आर्द्र वाणी में प्रकट हुई है:

"प्रीति कर काहू सुख न लह्यो;
प्रीति पतंग करी दीपक सों, अपनी देह दह्यो।
अलि सुत प्रीति करी जल-सुत सौं, सम्पति हाथ गह्यो;
सारंग प्रीति जु करी नाद सों, सनमुख बान सह्यो।"

प्रेम की अवस्थाओं के जो मार्मिक चित्र हमें 'सूरसागर' में मिलते हैं, वे हिन्दी कविता में अन्यत्र दुर्लभ हैं। विशेष रूप से वियोग-शृंगार के जो हृदय-स्पर्शी वर्णन सूर-काव्य में हैं उनकी समता करनेवाले पद आसानी से कहीं और न मिलेंगे। कृष्ण के विरह में गोपियाँ कहती हैं:—

"बटाऊ होहिं न काके मीत।"

अथवा

"कहा परदेशी को पतियारो।
प्रीति बढ़ाय चले मधुबन को, बिछुरि दियो दुख भारो।"

इसी संबंध में आँखों के, प्रकृति के, मन की सूक्ष्म अनुभूतियों के अपूर्व वर्णन सूर ने किए हैं। पावस के, काली अँधेरी रात के, यमुना-तट के कुंजों के अनुपम वर्णन भी निरन्तर सूर के गीतों में हमें मिलेंगे। आँखों ने वर्षा की झड़ी लगा दी है:—

"नैननि होड़ बदी बरषा सों।
राति दिवस बरसत झर लाए, दिन दूरी करखा सों।"

सावन की अन्धकार भरी रातों की तुलना सूर साँपिन से करते हैं। कहते हैं कि साँपिन काट कर उलटी हो जाती है; उसकी पीठ काली और पेट सफ़ेद होता है। उलटने से उसका सफ़ेद पेट ऊपर हो जाता है। सावन की काली रात में चाँदनी की चमक ऐसा ही प्रभाव उत्पन्न करती है:—

"पिया बिनु साँपिनि कारी राति।
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति॥"

सूर के काव्य में हमें निरन्तर जीवन का गहरा अनुभव, सूक्ष्म अनुभूतियाँ और वर्णन की प्रौढ़ता मिलती है। काव्य-विदग्धता में सूर तुलसी से कहीं भी कम नहीं हैं। अपने काव्य के विस्तार और अनुभव भी व्यापकता के कारण तुलसी सूर से आगे बढ़ते हैं।

सूर के शैशव-वर्णन भी बहुत सच्चे, स्वाभाविक और मार्मिक हैं। सूर का प्रत्येक पद गहरी प्रेरणा और अनुभव का द्योतक है; इन पदों के लालित्य का रहस्य सच्ची जीवन-अनुभूति है; इन्हें कवि ने केवल कला-कौशल से ही बनाया-सँवारा नहीं है ! ऐसा कला-कौशल हमें रीतिकालीन काव्य में पग-पग पर मिलता है।

राम के बाल-स्वरूप का जो वर्णन हमें 'मानस' और 'कवितावली' में मिलता है, उसी उच्चतम कोटि के वर्णन कृष्ण के बाल-रूप से संबंधित पदों में 'सूरसागर' में भी हम पाते हैं। कृष्ण माखन चुरा कर खाते हैं ! यशोदा उन्हें फुसलाती हैं कि दूध अधिक पीयें, जिससे उनकी चोटी बढ़ सके ! बलराम उन्हें खिजाते हैं कि यशोदा ने उन्हें मोल लिया है :—

"गोरे नन्द, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर;
दै दै तारी हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर !"

सूर के गीत जीवन से विरक्त कवि के गीत नहीं हैं। इन गीतों के पीछे जीवन की गहरी सम्वेदना है; यह काव्य जीवन के प्रति अनुरक्त काव्य है; अहर्निश मानवीय जीवन में गले तक डूबे कवि की इसमें व्यथा प्रकट हुई है।

सूर का युग उन्हें सिखा रहा था कि जीवन की विषमताओं से बचने का एक मात्र उपाय भगवद्-भजन है। सूर ने कृष्ण को मानवीय रूप में देखा और उसी का वर्णन अपने काव्य में किया। सूर-काव्य हमें प्रेम का संदेश देता है। प्रीति करने से किसी को सुख नहीं मिलता, किन्तु फिर भी सभी जीव प्रेम के मार्ग पर ही चल रहे हैं। यही मानव-जीवन का धर्म है। सूर-काव्य ने हिन्दी जनता के बीच प्रेम की पुनीत सरिता प्रवाहित की। उनका काव्य पाठक को निरन्तर समुन्नत और उदार बनाता है; मन के कल्मष को वह आँसुओं के जल से धोकर बहा देता है। सूर के गीतों को भारतीय जनता सदा अपने हृदय का हार मानेगी और इस रूप में ही उसे धारण करेगी। मनुष्य के हृदय की पीर इन गीतों में व्यक्त हुई है; उनकी प्रेरणा और मार्मिकता और पाठक के हृदय पर चोट करने का रहस्य भी हमें यहीं मिलेगा।

--——o——

१

प्रियप्रवास

एक लंबे अरसे तक सामन्ती मोह-निद्रा में सोया बूढ़ा भारत विदेशी पूँजीवाद के संपर्क में आया और आँख मलता हुआ उठा। सदियों तक वह कूप-मंडूक बना रहा था और बाहरी दुनिया की तबदीलियां और विचार-व्यवस्था का उसे कुछ पता न था। नए विचार-दर्शन के संपर्क में आकर भारतीय समाज में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुये और संस्कृति, कला और साहित्य पर भी उनकी छाप पड़ने लगी। नवीन साहित्य और कला ने परंपरा की शृंखलाएँ तोड़कर एक नये दृष्टिकोण और विचार-शैली को अपनाया। हिन्दी साहित्य में परिवर्त्तन के लक्षण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के युग में प्रकट होने लगे थे, यद्यपि भारतेन्दु साहित्य सामन्ती केंचुली को पूरी तौर से छोड़ न पाया था। रीतिकाल की परंपरा भारतेन्दु के काव्य में स्पष्ट है :

"देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि
जिय में बिरह घटा घहरि घहरि उठै;
त्यों ही इन्द्रधनु, बगमाल देखि बनमाल
मोती-लर पी की जिय लहरि-लहरि उठै।
'हरिचंद' मोर-पिक-धुनि सुनि बंसीनाद
बाँकी छवि बार-बार छहरि-छहरि उठै;
देखि-देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत
पट-छोर मेरे हिय फहरि-फहरि उठै॥"

वही भारतेन्दु 'भारत-दुर्दशा' में अपनी सामाजिक और आर्थिक हीनता की चेतना भी प्राप्त कर चुके हैं :—

"अंग्रेज राजसुख साज सजे सब भारी;
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।
ताहू पै महँगी काल-रोग बिस्तारी;
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा भारी।

सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई;
हा-हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई ।"

'भारत-भारती' तक हिन्दी काव्य सामन्ती ढाँचा तोड़ चुका है और नई रूप-रेखा और विचार विन्यास बनाने में तल्लीन है। बा० मैथिलीशरण गुप्त ने हिन्दी कविता को नए युग के अनुरूप जामा पहनाया। उन्होंने खड़ी बोली अथवा बोलचाल की भाषा को कविता का माध्यम बनाया। इसी नींव पर आधुनिक हिन्दी काव्य-प्रासाद के भव्य स्तंभ 'कामायनी', 'पल्लव', "अनामिका', 'नीरजा' और 'ग्राम्या' खड़े हुए।

'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का पहला महाकाव्य है। यह लंबी उड़ान नई कविता में बल-संचार की सूचना है। भाषा में प्रौढ़ता और शक्ति के साथ-साथ 'प्रियप्रवास' की अनुभूति, कोमलता, रस और भाव-व्यञ्जना भी सराहनीय है। 'प्रियप्रवास' ने हिन्दी काव्य के बहुत पिटे विषय को उठाया, किन्तु उसकी सफलता ही कवि के साहस का प्रमाण है। कृष्ण-काव्य की परंपरा में सूरदास नन्ददास, मीरा, रसखान, बिहारी, देव, मतिराम आदि सभी कवियों के नाम आ जाते हैं। गोपिकाओं के विरह-वर्णन के अतुलनीय प्रयास हमें सूरदास और नन्ददास में मिलते हैं। इन कवियों से होड़ करके पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने खड़ी बोली का माथा ऊँचा किया। कृष्ण को मथुरा भेजने के समय यशोदा नन्द को आदेश देती हैं :—

"अहह दिवस ऐसा हाय ! क्यों आज आया।
निज प्रिय सुत से जो मैं जुदा हो रही हूँ।
अगणित गुण वाली प्राण से नाथ प्यारी
यह अनुपम थाती मैं तुम्हें सौंपती हूँ॥

सब पथ कठिनाई नाथ हैं जानते ही।
नहिं कुँवर कहीं भी आज लौं हैं सिधारे।
मधुर फल खिलाना दृश्य नाना दिखाना
कुछ पथ दुख मेरे बालकों को न होवे॥

खर पवन सतावे लाड़िलों को न मेरे
दिनकर किरणों की ताप से भी बचाना।
यदि उचित जँचे तो छाँह में भी बिठाना
मुख-सरसिज ऐसा म्लान होने न पावे॥

विमल जल मँगाना देख प्यासा पिलाना।
कुछ क्षुधित हुए ही व्यंजनों को खिलाना।
दिन वदन सुतों का देखते ही बिताना
प्रफुलित अधरों को सूखने भी न देना॥
युग तुरग सजीले वायु से वेग वाले!
अति अधिक न दौड़ें यान धीरे चलना।
बहु हिल कर हा हा कष्ट कोई न देवे।
परम मृदुल मेरे बालकों का कलेजा।...''

इस वर्णन की स्वाभाविकता और सजलता महाकाव्य की गति के ही अनुकूल है। इस सच्ची अनुभूति में बनावट की गंध नहीं। फिर भी कवि ने अपनी भूमिका में विशेष नम्रता से अपने प्रयास के लिए क्षमा प्रार्थना की है :

''मुझ में महाकाव्यकार होने की योग्यता नहीं, मेरी प्रतिभा ऐसी सर्वतोमुखी नहीं, जो महाकाव्य के लिए उपयुक्त उपस्कर संग्रह करने में कृतकार्य्य हो सके, अतएव मैं किस मुख से यह कह सकता हूँ कि 'प्रियप्रवास' के बन जाने से खड़ी बोली में एक महाकाव्य न होने की न्यूनता दूर हो गई?...''

जिस युग में 'प्रियप्रवास' की रचना हुई, उस समय अपनी पराजय से मर्माहत भारतीय संस्कृति अतीत के सुनहले सपने देखने में तल्लीन थी। 'वर्त्तमान के पल' उसे अपनी ओर खींचने का प्रयत्न ही कर रहे थे।

''समय द्रुह की ओर सिसकते मेरे गीत विकल धाए,
आज खोजते उन्हें बुलाने वर्त्तमान के पल आए।''

इस युग के सभी सामाजिक आन्दोलन पुरातन की ओर उन्मुख थे और बीती स्मृतियों को बटोर रहे थे। इस विचार-धारा का प्रवाह हिन्दी काव्य में 'भारत-भारती', 'प्रियप्रवास', 'कामायनी' और पन्त का 'परिवर्त्तन' हैं। किन्तु 'पल्लव' और 'कामायनी' में काव्य-अनुभूति बहुत गहरी हो चुकी है और एक नई जीवनशक्ति आधुनिक हिन्दी काव्य में आ गई है। भारतीय मध्यवर्ग की संस्कृति अब आत्म-चेतना में लुप्त हो रही है और कल्पना-विलास में जीवन के कठोर यथार्थ को भूलने का प्रयत्न करती है :—

''आज का दुख, कल का आह्लाद,
और कल का सुख, आज विषाद;
समस्या स्वप्न-गूढ़ संसार,
पूर्ति जिसकी उस पार।...''

'प्रियप्रवास' प्रयोग-काल की रचना है। इस युग में हिन्दी काव्य अपनी वाणी पाने का प्रयास कर रहा था। मैथिलीशरण गुप्त ने जिस भाषा को गढ़ा, अयोध्या सिंह उपाध्याय ने जिसका श्रृंगार किया, 'प्रसाद' पन्त और महादेवी के काव्य में उसका रूप मानो धरती-आकाश फोड़ निकल रहा है।

पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय ने भाषा के अनेक प्रयोग किए। ब्रजभाषा, संस्कृत से बोझिल खड़ी बोली और 'ठेठ हिन्दी का ठाट' सभी पर उनका समान अधिकार रहा है। वह सहल से सहल हिन्दी लिख सकते हैं और कठिन से कठिन भी, 'चुभते चौपदे' और 'प्रियप्रवास' दोनों ही। राधा के रूप का वर्णन मानो उन्होंने ठेठ संस्कृत में लिखा है :

"रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली।
शोभा-वारिधि की अमूल्य-मणि सी लावण्य-लीला-मयी।
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी-माधुर्य्य-सन्मूर्ति थीं।"

किन्तु 'प्रियप्रवास' में ही खड़ी बोली का निरुपम मधुर संगीत हमें मिलेगा :—

"तारे डूबे तम टल गया छा गई व्योम-लाली।
पंछी बोले तमचुर जगे ज्योति फैली दिशा में।
शाखा डोली सकल तरु की कंज फूले सरों में।
धीरे धीरे दिनकर कढ़े तामसी रात बीती॥..."

'प्रियप्रवास' को पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय ने संस्कृत के छन्दों में और भिन्न-तुकान्त शैली यानी Blank verse में लिखा है। इस प्रकार का हिन्दी में यह पहला प्रयास था और निस्संदेह सफल प्रयास था। कई दिशाओं में यह महाकाव्य हिन्दी साहित्य में एक पथदर्शक था। यद्यपि रास्ता मुड़-मुड़कर पीछे की ओर देखता था, घूम-फिर कर अवश्य ही हिन्दी काव्य को 'प्रियप्रवास' ने आगे बढ़ाया। ऐतिहासिक और काव्यदृष्टि दोनों से ही यह ग्रन्थ एक मार्गस्तंभ था।

खड़ी बोली युक्तप्रान्त के मध्यवर्ग की भाषा है, जिस प्रकार ब्रजभाषा उसके सामन्ती वर्ग की। 'प्रियप्रवास' तक मध्यवर्ग की संस्कृति का भाषा-कलेवर बन चुका है। उसके प्राणों की कोमलता और मधुरता का परिचय 'पल्लव', 'कामायनी', 'गीतिका' और 'नीरजा' में हमें मिलेगा। यह काव्य हाथीदाँत के मीनारों में बन्द रहा है, और धरती की कठोरता का परिचय

हमें नहीं देता। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' तक भारतीय संस्कृति सामाजिक चेतना पा चुकी है और पृथ्वी के संपर्क से दुगुना-तिगुना बल पा रही है।

'प्रियप्रवास' आधुनिक भारतीय संस्कृति की यात्रा का एक पगचिह्न है। भारतीय समाज के जागरण काल में हम अपने पूर्वजों की स्मृतियाँ बटोर रहे थे, उनका मार्ग अनुसरण कर रहे थे। 'प्रियप्रवास' भक्तिकाल की एक प्रतिध्वनि है। सामाजिक यथार्थ से लोहा लेने का बल हमें उससे नहीं मिलता, किन्तु परम्परा के काव्य की कसौटियों पर कस के हम उसे अवश्य ही खरा पाते हैं।

'प्रियप्रवास' का आरंभ साँझ के एक दृश्य से हुआ है। यह दृश्य खड़ी बोली के काव्य का स्मरणीय प्रयास है :

"दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला॥
तरु-शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

फिर गोप अपने घरों को लौटने लगे और कृष्ण की मुरली बज उठी। यह वर्णन व्रजभाषा के काव्य में बार-बार दुहराया गया है। रात होते-होते कंस का संदेश लेकर कृष्ण को मथुरा ले जाने के लिए अक्रूर आ गये। पल भर में व्रजभूमि पर विषाद छा गया :

"कुछ घड़ी पहले जिस भूमि में।
प्रवहमान प्रमोद प्रवाह था।

अब उसी रस-प्लावित भूमि में।
बह चला खर स्रोत विषाद का।"

कृष्ण के मथुरा से न लौटने पर राधा पवन को अपना दूत बनाती है। यह स्थल भारतीय काव्य के महान् क्षणों से प्रेरित हुआ है :

"मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नेत्र वाले।
जा के आये न मधुवन से औ न भेजा संदेशा॥
मैं रो रो के प्रिय विरह से बावली हो रही हूँ।
जा के मेरी सब दुख कथा श्याम को तू सुना दे॥
तू जाती है सकल थल ही वेग वाली बड़ी है।
तू है सीधी तरलहृदया ताप उन्मूलती है॥

मैं हूँ जी में बहुत रखती वायु तेरा भरोसा।
जैसे हो ऐ भगिनि, बिगड़ी बात मेरी बना दे॥

कालिन्दी के तट पर बने रम्य उद्यानवाला।
ऊँचे ऊँचे धवल गृह की पंक्तियों से प्रशोभी॥

जो है न्यारा नगर मथुरा प्राणप्यारा वहीं है।
मेरा सूना सदन तज के तू वहाँ शीघ्र ही जा॥"

फिर राधा मेघदूत की परिपाटी पर पवन को रास्ता बताती है और अपना संदेशा उसे सहेजती है। कृष्ण-काव्य की परंपरा में गोपियाँ भ्रमर-दूत को अपने विरह का संदेश सौंपती हैं। इस दिशा में नन्ददास के पद अतुलनीय हैं :

"कोऊ कहै री बिस्व माँझ जेते हैं कारे
कपट कुटिल की कोटि परम मानुष मसि हारे।
एक श्याम तन परसि कै जरत आज लौ अङ्ग,
ता पाछे यह मधुप हू लायो जोग भुवंग।
कहाँ इनको दया।
कोई कहै री मधुप भेप इनही को धारयो,
स्याम पीत गुंजार बैन किंकिणि झनकारयो।
बापुर गोरस चोरि कै फिर आयो यहि देस,
इनको जनि मानहु कोऊ कपटी इनको भेस।
चोरि जनि जाय कछु।"

+ + + +

"कोऊ कहै रे मधुप कहा तू रस को जानै,
बहुत कुसुम पै बैठि सबै आपन सम मानै।
आपन सम हमको कियो चाहत है मतिमन्द,
दुबिधा ज्ञान उपजाइ कै दुखित प्रेम आनन्द।
कपट के छन्द सौं॥"

जब उद्धव कृष्ण के भेजने पर पहली बार गोकुल आते हैं, इस अवसर पर अनेक वन, बाग, तड़ाग, पुष्प, तरु, लताओं का वर्णन 'प्रियप्रवास' में है। इस वर्णन का प्रवाह खुला और निर्झर के समान अविरल है। गोप-गोपिकाएँ उद्धव को कृष्ण की अनेक लीलाएँ सुनाते हैं और उद्धव उनके शोक का कुछ

अनुमान पाते हैं। एक बालिका विह्वल होकर फूलों से सान्त्वना माँगती है और उनसे भी निराश होकर भौंरे से बात करती है :—

"अयि अलि तुझ में भी सौम्यता हूँ न पाती।
मम दुख सुनता है चित्त देके नहीं तू।
अति चपल बड़ा ही ढीठ औ कौतुकी है।
थिर तनक न होता है किसी पुष्प में भी॥

"यदि तज कर के तू गूँजना धैर्य्य द्वारा।
कुछ समय सुनेगा बात मेरी व्यथा की।
तब अवगत होगा बालिका एक भू में।
विचलित कितनी है प्रेम से वंचिता हो॥

+ + + +

"मधुकर सुन तेरी श्यामता है न वैसी।
अति अनुपम जैसी श्याम के गात की है।
पर जब नयनों से देख लेती तुझे हूँ।
बस मम उर में है श्यामली मूर्ति जाती॥

"तव तन पर जैसी पीत आभा लसी है।
प्रियतम कटि में है सोहता वस्त्र वैसा।
गुनगुन करना औ गूँजना देख तेरा।
रसमयि मुरली का नाद है याद आता॥"

इस प्रकार हम देखेंगे कि परिस्थिति में रम जाने की क्षमता 'प्रियप्रवास' के कवि में अवश्य है। जिस वर्णन को वह उठाता है, उसे एक बड़े पैमाने पर ही उठाता है। महाकाव्यकार की यह विशाल कल्पना उसे प्राप्त है। विषय का निर्वाह वह पूरे अधिकार से करता है, चाहे उसका वर्णन वास्तविक न होकर पंडिताऊ ही हो, उसकी भाषा सभी कहीं चिकनी, चमकीली न हो और एक प्रकार का बासीपन उसकी रचना पर छाया हो। हमें स्मरण रखना होगा कि 'प्रियप्रवास' प्रयोगकालीन रचना है और इस युग में हिंदी का नया काव्य अभी अँगड़ाई ले रहा है। महाकाव्य लिखने के प्रयास प्रत्येक युग में होते हैं, किन्तु जिन परिस्थितियों में महाकाव्य की रचना होती है, वह भारतीय इतिहास के इस युग में मौजूद न थीं। 'प्रियप्रवास' स्वयं सच्चे अर्थ में महाकाव्य न होकर अन्य महाकाव्यों की एक प्रतिध्वनि मात्र है। 'मेघदूत', 'सूरसागर' 'भ्रमरगीत' आदि नाम इस संबंध में गिनाए जा सकते हैं।

महाकाव्य की सफल रचना राजनैतिक उथल-पुथल के युग में होती है जब कि किसी जाति की पूरी शक्तियाँ निर्माण के कार्य में लगी हों। ऐतिहासिक दृष्टि से महाकाव्य का रचयिता कोई एक व्यक्ति नहीं होता, चाहे दंतकथाएँ किसी होमर अथवा वेद्व्यास के माथे यह सेहरा बाँध दें। सभ्यकालीन कवि इन उषःकाल के काव्यों की नक़ल मात्र करते हैं, जिसके सफल उदाहरण वर्जिल का 'ईनीड' अथवा मिल्टन का 'Paradise lost' है।

'प्रियप्रवास' का कथानक खूब अच्छी तरह गुँथा है। कथा की गति सहज और तरल है, किन्तु विस्तार की अपेक्षा इसमें स्पष्टता कम है। वर्णन फैला है किन्तु एक सूत्र में बँधकर नहीं चला, मानो कथा की लड़ी में अनेक धागे एक साथ पिरोए गए हों। कथा के नायक कृष्ण हैं, किन्तु यह नायक बहुत करके नेपथ्य में ही रहे हैं। मिल्टन के Satan अथवा 'प्रसाद' के मनु की तरह रंगमंच पर नहीं आते। 'प्रियप्रवास' एक विरह-काव्य है जिसका पहला नामकरण 'व्रजांगना-विलाप' उचित ही था। विरह-शृंगार के इसमें अनेक कोमल और अनुभूति-रंजित वर्णन हमें मिलेंगे। वास्तव में रीतिकाल की परंपरा का ही निर्वाह खड़ी बोली के माध्यम से 'प्रियप्रवास' में हुआ है। एक दृष्टि-कोण से यह महाकाव्य समय के बाद जन्मा है। सामन्ती विचार-धारा को यह पूँजीवाद के युग में ले आया है। 'प्रियप्रवास' हमारे साहित्यिक अजायबघर की एक अनमोल थाती है। किन्तु इसके साथ ही साथ 'प्रियप्रवास' ने कविता के नये माध्यम यानी खड़ी बोली को खूब निखारा-चमकाया भी। इस प्रकार यह नवीन भारतीय पूँजीवादी संस्कृति के साथ बँधा है। एक पुराने युग के अन्त और नये के आरम्भ की सूचना 'प्रियप्रवास' हमें देता है। 'प्रिय-प्रवास' में हिन्दी कविता ने नये युग का जामा सँवार-बना कर पहना है, किन्तु उसके प्राणों का स्पन्दन अभी पुरातन की प्रेरणा से है।

किन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'प्रियप्रवास' का स्थान अजर-अमर है। 'प्रियप्रवास' एक हद तक नये हिन्दी काव्य का पथदर्शक है। नई भाषा के गढ़ने में 'प्रियप्रवास' एक महत् प्रयास है। बंजर भूमि को इस अस्त्र से जोत कर कवि-स्रष्टा ने उर्वरा बनाया। जब इस भूमि पर बीज पड़ा तो इस धरती ने एक बड़ी लहलहाती फ़स्ल पैदा की, अनेक फल-फूल, लता-द्रुम इस भूमि पर फैल कर बढ़े। खड़ी बोली की इस विशाल नींव पर ही बाद के भव्य प्रासाद 'पल्लव', 'गीतिका', 'सान्ध्य-गीत', 'ग्राम्या' आदि खड़े हुए।

———०———

१०

प्रेमचन्द का साहित्य

प्रेमचन्द का युग हमारे देश में राष्ट्रीय संघर्षों का युग है। लगभग दो महा-युद्धों के बीच का कालखण्ड प्रेमचन्द का युग अपनी परिधि में समेटता है। यह युग विश्व-साम्राज्यवाद के गहरे होते हुए संकट और उसके विरुद्ध एशिया की जातियों के तीव्रतम होते हुए विद्रोह का युग है। इस युग में साम्राज्यवादी शासक संसार के बटवारे के लिए परस्पर मर्मान्तिक संघर्ष में लीन थे। यह युग पूँजीवाद और साम्राज्यावाद के मरण-काल की सूचना लाया था। पहले महासमर में पूँजी-वादी श्रृंखला की सबसे कमज़ोर कड़ी ज़ारशाही टूट गई; दूसरे महासमर के फलस्वरूप चीन स्वतंत्र हुआ। पहली क्रान्ति का एशिया के राष्ट्रों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। साम्राज्यवादी शासक एशिया की जातियों को दबा रहे थे और उन्हें सिर उठाने का अवसर न देते थे। जारशाही के नष्ट होने से मध्य एशिया के नए जनतंत्रों ने सामन्तवाद से समाजवाद तक की दीर्घ, सदियों की यात्रा, बीस-तीस वर्षों में पूरी कर ली।

अक्तूबर क्रान्ति का महत्व बताते हुए स्तालिन लिखते हैं: "अक्तूबर क्रान्ति संसार के इतिहास में ऐसी पहली क्रान्ति है, जिसने पूर्व की त्रस्त जातियों की मेहनतकश जनता को सदियों की निद्रा से जगाया और उन्हें विश्व-साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में खींचा...

"अक्तूबर क्रान्ति पिछड़े, पूर्व और आगे बढ़े हुए पश्चिम के राष्ट्रों के बीच संपर्क स्थापित कर रही है और साम्राज्यवाद के विरुद्ध उनके समान संघर्ष में उन्हें साथ ला रही है।" (अक्तूबर क्रान्ति और राष्ट्रीय प्रश्न, १६१८)।

इसी संबंध में रजनी पामदत्त अपनी नई पुस्तक 'ब्रिटेन और ब्रिटिश साम्राज्य का संकट' में लिखते हैं: "विश्वक्रान्ति की लहर जो सन् १६१४-१८ के युद्ध और रूसी क्रान्ति के साथ आई, सभी औपनिवेशिक देशों में फैल गई। पहले के सीमित राष्ट्रीय आन्दोलन शक्तिशाली जन-आन्दोलन में परिणत हो गए, उन्होंने साम्राज्यवादी गढ़ों पर लगातार हमले किये और उनका भीषण दमन हुआ।"

इन राष्ट्रीय आन्दोलनों के पूँजीवादी नेतृत्व के संबंध में दत्त लिखते हैं : "जनता की प्रगति से घबराकर औपनिवेशिक पूँजीवाद ने दुतर्फ़ा, ढुलमुल भूमिका अपनायी और इसका प्रमुख अंग जनता के विरुद्ध साम्राज्यवाद के साथ समझौते और क्रांति-विरोधी गठबंधन की ओर बढ़ा। इसके विपरीत, औपनिवेशिक श्रमजीवी वर्ग अब स्वतंत्र राजनीतिक चेतना और संगठित शक्ति अर्जित कर चुका था..." (ब्रिटेन और ब्रिटिश साम्राज्य, पृष्ठ ६७)।

प्रेमचन्द के युग और उनके साहित्य को राष्ट्रीय आन्दोलन के तीव्र होते हुये संघर्ष और अपार किसान-मजदूर जनता की बढ़ती हुई शक्ति की पृष्ठ-भूमि में ही हम समझ सकते हैं। प्रेमचन्द के युग में साम्राज्यवादी संकट बहुत गहरा हो गया था और भारत की जनता अपनी मुक्ति के लिये विद्रोह का पथ अपनाने लगी थी। राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व जनता के इस संघर्ष को रोकना चाहता था और इसके लिये सीमाएँ और अनुशासन निर्दिष्ट करना चाहता था।

'आज का भारत' में रजनी पामदत्त आधुनिक युग में भारत के शासन को 'इजारेदार पूँजीवादी शासन' का युग कहते हैं। साथ-ही-साथ जनता के 'अभूतपूर्व संघर्षों' का युग भी। (आज का भारत, पृष्ठ १०८–६) प्रेमचन्द अपने साहित्य में ब्रिटिश शासन की तानाशाही का नग्न रूप दिखाते हैं और उसके विरुद्ध जनता के सतत तीखे होते हुये संघर्ष भी।

प्रेमचन्द का भारत सामन्ती अवशेषों और सामन्ती प्रभुता का भारत भी है। उपनिवेश होने के कारण यहाँ उद्योग-धन्धों का विकास साम्राज्यशाही द्वारा रोका गया था और सामान्तवाद को दवा पिलाकर ज़बर्दस्ती पाला गया था। ज़मीदार और उसके समर्थकों का शोषण प्रेमचन्द-साहित्य का केन्द्रीय विषय है। चीन और भारत के समान पिछड़े देशों में किसान की मुक्ति का प्रश्न राष्ट्रीय आन्दोलन की कुंजी होता है। इसी किसान को प्रेमचन्द ने भारतीय साहित्य में पहली बार प्रतिष्ठित किया। प्रेमचन्द का साहित्य भारत के ग्राम-जीवन और किसान-संघर्षों का इतिहास प्रस्तुत करता है। आधुनिक भारत के अन्य किसी कालाकार ने किसान-जीवन का इतना अधिकारपूर्ण वर्णन नहीं किया।

प्रेमचन्द का साहित्य भारत के राष्ट्रीय नवजागरण का साहित्य है। प्रेमचन्द के युग में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन ने अनेक मोड़ लिए। रजनी पामदत्त के अनुसार भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन तीन शक्तिशाली लहरों के रूप में प्रकट होता है। पहली लहर १६०५–१० तक रही जब कि नरमदली नेतृत्व की सत्ता हटी और निम्न वर्गों की जनता संघर्षों में कूदी। इसी दौर में लोकमान्य तिलक की

गिरफ्तारी पर सन् १९०८ में बम्बई के मज़दूरों की व्यापक हड़ताल हुई, जिसका आवाहन लेनिन ने किया था। दूसरी लहर का काल १९१९-२२ था, और तीसरी का १९३०-३४। राष्ट्रीय आन्दोलन के इस उभार का कारण भारतीय मज़दूर और किसान वर्ग की जाग्रत चेतना थी। यह चेतना साम्राज्यवादी शासन से निर्णयात्मक टक्कर लेने को अधीर थी, लेकिन राष्ट्रीय कांग्रेस का पूँजीवादी नेतृत्व आन्दोलन को उफान पर पहुँचते ही उसे रोकना चाहता था। प्रेमचन्द के साहित्य में हम किसान और मजदूर वर्गों के तीव्रतम होते हुए संघर्षों की अभिव्यक्ति पाते हैं, साथ ही नेतृत्व के प्रति टूटते हुए भ्रम भी। उग्र होते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन की चेतना के साथ ही प्रेमचन्द के साहित्य में हम समझौतावादी दृष्टि का ह्रास और निर्णयात्मक संघर्षों की ओर उनका बढ़ता हुआ रुझान भी देखते हैं।

प्रेमचन्द-साहित्य के प्रारम्भिक काल में हम अन्तर्विरोध पाते हैं। हृदय-परिवर्तन और आश्रमों की स्थापना को वह सामाजिक शोषण का प्रतिकार समझते थे। औद्योगिक विकास का भी वह केवल शोषण-पक्ष देखते थे। सामन्तवाद से नजात वह औद्योगिक विकास में न देखकर किसी आदिम युग के स्नेह-सम्बन्धों में देखते थे। "किन्तु पूँजीवादी नेतृत्व के प्रति प्रेमचन्द के भ्रम निरन्तर टूटते गये और उनके साहित्य में शोषित वर्गों के तीव्र होते हुये संघर्षों का स्वर अविराम गहरा होता चला गया।"

प्रेमचन्द के साहित्य में भारतीय जीवन के सामाजिक और राजनीतिक हड़कम्पों की कथा बराबर व्यक्त हुई है। यह साहित्य एक महान 'एपिक' (Epic) है, जिसमें भारतीय जीवन का बहुमुखी दर्शन हम पाते हैं। अनन्त जीवन-भार और व्यथा से प्रेमचन्द का साहित्य आकुल है। ऐसा विराट् व्यापक चित्र, आधुनिक भारतीय साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। रवीन्द्रनाथ के साहित्य में हम ऊपरी वर्गों और निम्न मध्यवर्ग की जीवन-व्यथा प्रतिबिम्बित पाते हैं। यहाँ हमें आर्थिक और सामाजिक शोषण से त्रस्त 'पोस्ट मास्टर', 'मास्टर साहब', अफ़सर और कभी-कभी कंगले भी मिलते हैं। यह अर्दली हो सकता है, डाक का हरकारा हो सकता है, पोस्ट मास्टर की नौकरानी भी हो सकती है। इस जीवन-व्यथा का गहरा मर्म-स्पर्शी वर्णन रवीन्द्रनाथ करते हैं। उनके साहित्य में हमें जीवन का व्यापक प्रसार और गहराइयाँ एक साथ ही मिलते हैं। उनकी महानता का यही रहस्य है। शरद्चन्द्र के उपन्यासों में हम सामन्ती शोषण और आतंक के हृदय हिलानेवाले चित्र पाते हैं। इस उत्पीड़न के मध्यवर्गीय शिकार शरद्चन्द्र की रचनाओं में

मिलते हैं। शरद्‌चन्द्र के पात्र हमारे हृदय को मथ डालते हैं, मर्मान्तक पीड़ा उन्होंने अपनी कथाओं और चरित्रों में कूट-कूट कर भर दी है।

प्रेमचन्द अपने कथा-साहित्य में भारतीय जीवन के अब तक लगभग अछूते अंश को अपनाते हैं। यह अंश भारतीय जीवन का केन्द्र-बिन्दु है। भारतीय ग्राम और किसान भारत की सच्ची वास्तविकता और यथार्थ हैं। इसे प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में विस्तार से और उसमें तल्लीन होकर चित्रित किया। 'प्रेमाश्रम' में 'कर्मभूमि' में, 'रंगभूमि' में, 'गोदान' में हम इन किसान संघर्षों का व्यापक और मर्मस्पर्शी चित्रण पाते हैं। यह आग ज़रा सा इशारा पाते ही भड़क उठने को तैयार रहती है, और मानो इसे सँभालना और रोकना असंभव हो। यह भारतीय किसान इतना संतप्त और त्रस्त है कि उसकी पीठ अब और तिनका भर बोझ भी बर्दाश्त नहीं कर सकती।

"किसान जीवन के 'एपिक' अथवा महाकाव्य के रूप में ही हम प्रेमचन्द के साहित्य को समझ सकते हैं।" इस जीवन का चित्र-विचित्रित, सर्वतोमुखी वर्णन प्रेमचन्द का साहित्य हमें देता है। कहीं अलाव के चतुर्दिक् बैठे किसान जमींन्दारों के अन्याय की बातचीत कर रहे हैं, कहीं महाजनों की बेईमानी की और पंडों, कारिन्दों और पुलिस के कर्मचारियों की क्रूरता की। इनमें से अनेक पात्र महान और चिरस्मरणीय हैं। इनमें प्रेमचन्द का अमर पात्र होरी है, जिसने अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध अपना सतत-विद्रोही सिर कभी नहीं झुकाया, जो "हारे हुए महीप की भाँति" अपनी मुट्ठी-भर ज़मीन की रक्षा करता हुआ खेत रहा, किन्तु जिसने कभी अस्त्र नहीं डाला। यहीं हमें धनिया, पुनिया, गोबर, सक़ीना, अमरकान्त, प्रेमशंकर और उन्हीं के समान और भी दर्जनों पात्र मिलते हैं, जो अपनी अमिट छाप पाठक के मन पर छोड़ जाते हैं। प्रेमचन्द के साहित्य में हमें भारतीय जीवन की समृद्ध चित्र-शाला मिलती है, जहाँ हम युवा, वृद्ध, नर, नारी, शिशु, सभी प्रकार के चरित्र पाते हैं। इनकी जीवन-कथा महान लेखक ने रक्त और अश्रु से लिखी है। इसे पढ़ते समय लगता है कि इतनी पीड़ा मनुष्य के लिये असहनीय है। इसे वह किसी प्रकार भी बर्दाश्त नहीं कर सकता! और तभी विद्रोह की ज्वाला मानो मानव-हृदय में धधक उठती है।

भारतीय जीवन के और भी अनेक क्षण प्रेमचन्द के साहित्य में हमें मिलते हैं। इनकी कथा 'सेवासदन', 'गबन' और 'निर्मला' के समान रचनाओं में हम पाते हैं। छोटे वेतन का मास्टर, सुन्दर पत्नी, आराम और सुख की लालसा,

यह स्वप्न जीवन के कठोर, क्रूर हाथ क्षण भर में तोड़ देते हैं। खाता-पीता घर, बड़ी होती हुई लड़कियाँ, विवाह और दहेज का प्रश्न, अन्त में मानो लड़की कुएँ में धकेल दी जाती है। मृत्यु के प्रहरी किसी बूढ़े के गले में वह बाँध दी जाती है। या वह ऐसे घर जाती है, जहाँ उसके अब तक के परिचित जीवन को भारी ठोकर और ठेस लगती है। भारतीय मध्यवर्ग के जीवन और साहित्य का यही चिरपरिचित करुण रूप बार-बार हमारे सामने आता है। रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों और कहानियों में, शरद्चन्द्र के 'परिणीता' और 'अरक्षणीया' में और प्रेमचन्द के 'सेवासदन' और 'ग़बन' में सामन्ती अवशेषों से त्रस्त भारतीय नारी की यह करुण-कथा आधुनिक भारतीय साहित्य में बार-बार व्यक्त हुई है, और इस भीषण कठोर सत्य से मुँह फेरना किसी भी साहित्यकार के लिये संभव नहीं हुआ है।

प्रेमचन्द की कहानियों में मनुष्य-जीवन की जो अपूर्व झाँकी और मानव-स्वभाव का जो परिचय हम पाते हैं, उसकी समुचित शब्दों में प्रशंसा करना असम्भव है। इन कहानियों से निरन्तर यह ध्वनि निकलती है : "मनुष्य महान और उदार है; जीवन के भीषण से भीषण क्षण भी उसे नहीं झुका सकते, वह ढुलमुल हो सकता है लेकिन अन्ततः जीत मनुष्यता की ही होती है।" प्रेमचन्द इतनी गहरी अनुभूति से भारतीय जनता के बारे में लिख सके, क्योंकि इस जीवन से उनका अन्तरंग संबंध था। भारतीय मानवता के हृदय की हर धड़कन को प्रेमचन्द पहचानते थे। वह जानते थे कि इस पृथ्वी का कण-कण अन्याय, क्रूरता और कुटिलता का विरोध करता है, और कभी उनका समर्थन नहीं कर सकता। इसी सत्य की प्रतीक 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर', 'नमक का दरोगा', 'ईश्वरी न्याय' के समान कहानियाँ हैं। ये व्यक्ति समाधिस्थ देवता अथवा योगी-संन्यासी नहीं हैं। उनमें अनेक दुर्बलताएँ हैं। अकसर वह आसन से डिग जाते हैं, किन्तु अन्त में विजय मानवता की ही होती है और दानवता परास्त होती है। "मानव-चरित्र की आधारभूत महानता में प्रेमचन्द की अडिग निष्ठा और आस्था थी।" प्रेमचन्द अत्यन्त निकट से भारतीय जनता की इन उदात्त भावनाओं से परिचित थे, तभी इन्हें अपने साहित्य में वह इस विश्वास से प्रतिष्ठित कर सके।

प्रेमचन्द के साहित्य की चर्चा करते समय इनके दो और गुणों का वर्णन भी आवश्यक है। वे हैं साम्प्रदायिक एकता के प्रति उनका दृष्टिकोण और उनकी सरल, सहज-प्राञ्जल भाषा। हिन्दू और मुसलमान, दो फ़िरकों में बँटी भारतीय

मानवता हमारे राष्ट्रीय जीवन के विकास में अवरोध और सामन्ती अवशेषों के आधिपत्य की सूचक थी। साम्राज्यवादी शासकों ने हमारे बीच बसे धार्मिक और सम्प्रदायगत मतभेदों को और भी तीखा किया और अन्त में देश के दो टुकड़े करके ही चैन लिया। इन भेदों के प्रति हमारे देश के सांस्कृतिक अग्रणी सचेत थे, यह कबीर, नानक, दादू आदि की परम्परा से स्पष्ट है। प्रेमचन्द भी इस एकता की परम्परा को अपने साहित्य में विकसित करते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों एक ही जाति और राष्ट्र के कण हैं। दोनों का एक सा स्वभाव, रहन-सहन, एक-सी भावनायें हैं। दोनों में ही हमें उच्चतम स्वभाव के प्राणी मिलते हैं और निकृष्ट व्यक्ति भी। 'क्षमा' नामक कहानी में प्रेमचन्द मुस्लिम आतिथ्य और क्षमाशीलता की पराकाष्ठा दिखाते हैं। आज भी भारतीय जीवन से साम्प्रदायिकता का विष अलग नहीं हुआ है, और भारत में फ़ासिस्तवाद इसी विष पर पल कर बड़ा होने का प्रयत्न कर रहा है। इसलिये "आवश्यक है कि हिन्दू-मुसलमान और उसके प्रतिरूप हिन्दी-उर्दू के झगड़े मिटाने के लिये हम प्रेमचन्द के सन्देश को याद रखें और उससे प्रेरणा लें।"

प्रेमचन्द हिन्दी और उर्दू दोनों में ही समान अधिकार से लिखते थे। उन्होंने पहले उर्दू में ही लिखना आरम्भ किया था, बाद में उनके साहित्य का हिन्दी-रूपान्तर हुआ। जिस उर्दू साहित्य में प्रेमचन्द की उदात्त राष्ट्रीय प्रेरणा व्यक्त हुई थी, उसे कुछ संकीर्ण मतवादी विदेशी कहने में नहीं हिचकिचाते। यह परम्परा अकबर, सरशाह, चकबस्त, जोश, राजेन्द्रसिंह बेदी, कृष्णचन्द्र, फ़िराक, कैफी, आज़मी और अली, सरदार जाफ़री द्वारा पोषित राष्ट्रीयता और प्रगतिशीलता की दीर्घ परम्परा है। और प्रेमचन्द इसका हृदय और केन्द्र-बिन्दु हैं। "प्रेमचन्द ने हिन्दी और उर्दू दोनों के ही साहित्य को भरा-पूरा और समृद्ध बनाया।" वह सरल स्वाभाविक और मुहाविरेदार सहज भाषा में लिखते थे, जो पाठक के हृदय को तीर की तरह बेधती हुई चली जाती है।

प्रेमचन्द के महान् पूर्ववर्ती तुलसीदास की भाषा भी भारतीय जनता के लिए इतनी ही सुगम और बोधगम्य थी। प्रेमचन्द ने भारतीय जनता के दुख-दर्द को उसी जनता की भाषा में व्यक्त किया था। प्रेमचन्द भारतीय जनता की निश्छल सरलता और सहज-स्वाभाविकता के साहित्यिक प्रतीक थे और इन्हीं गुणों को अपने साहित्य में स्वर देते थे।

प्रेमचन्द का उत्थान आधुनिक भारतीय इतिहास के क्रान्तिकारी युग में हुआ था। इस युग में भारतीय जनता के मुक्ति-संघर्ष उत्तरोत्तर तीव्र हो रहे

थे। नये वर्ग इस संघर्ष में कूद रहे थे और पुराना नेतृत्व बेनक़ाब हो रहा था। इसी वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन प्रेमचन्द के साहित्य से हम पाते हैं। प्रेमचन्द इस यथार्थ को हृदयंगम कर चुके थे, क्योंकि भारतीय जनता से वह अन्यतम संपर्क रखते थे। इतने निकट से हमारे देश और उसकी जनता को इस युग का अन्य कोई कलाकार न जानता था। प्रेमचन्द की सृजन-प्रेरणा, उनकी महानता और साहित्यिक विशेषता के पीछे यही रहस्य छिपा है। "प्रेमचन्द आधुनिक युग के सबसे अधिक क्रान्तिकारी लेखक हैं।" उन्हें भारतीय 'क्रान्ति का दर्पण' हम निस्संकोच कह सकते हैं। जिस क्रान्तिकारी परंपरा के वाहक कबीर पहले बनारस में हो चुके थे, उसी के समर्थ अनुयायी और पोषक प्रेमचन्द भी उसी मिट्टी में पले और बड़े हुए। हिन्दी साहित्य की यह देदीप्यमान और ज्वलन्त परंपरा तुलसी, कबीर, भारतेन्दु, प्रसाद और प्रेमचन्द द्वारा पोषित और विकसित हुई थी और काशी इसका केन्द्र था। किन्तु इस परंपरा का उत्तराधिकार काशी तक ही सीमित नहीं है, पूरा देश ही उसे आदरपूर्वक अपनाता है।

———o———

११

हिन्दी कविता में नवजागरण

राष्ट्र शब्द का प्रयोग आज जिस अर्थ में हो रहा है, वह औद्योगिक क्रांति के पहले असम्भव था। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पादन और वितरण के साधनों में इतनी उन्नति हुई कि बिखरे हुए जाति-समूह एक बंधन में बँध गये और राष्ट्रीय चेतना का प्रयोग पूँजीवाद द्वारा अपने वर्ग-हितों के लिए किया जाने लगा। मध्य-युग में जो जातियाँ परस्पर संघर्ष-रत थीं, वे उन्नीसवीं शताब्दी तक एक सूत्र में बिंध चुकी हैं। इसके उदाहरण यूरोपीय इतिहास में जर्मनी और इटली हैं। जो जातियाँ अथवा नगर प्रशा, बैवेरिया, रोम, मिलन आदि एक-दूसरे के बैरी थे, वे अब एकता का अनुभव करने लगे। इंगलैंड, फ्रांस और स्पेन में जातियों का एक सूत्र में संगठन सोलहवीं शताब्दी में हो रहा था, जब सामन्तवाद के क्षय के बाद नये वणिज—व्यापार के मार्ग इन देशों के व्यापारी खोज रहे थे।

आज जिस अर्थ में हम भारत को एक राष्ट्र कहते हैं, वह हमारे पूर्वजों की कल्पना के बाहर था। भारत एक देश है और विशेष भौगोलिक परिस्थितियों ने यहाँ के निवासियों को भाग्य के एक सूत्र में बाँध रखा है, यह कल्पना हमें पुराने काव्य में मिलती है, किंतु आधुनिक राष्ट्र के समान कोई विचार पुरानी परिस्थितियों में असम्भव था। भारत अनेक जातियों अथवा राष्ट्रों का देश था। उदाहरण के लिये सौराष्ट्र अथवा महाराष्ट्र ले सकते हैं। इसी प्रकार और भी अनेक राष्ट्र थे।

अंग्रेजी शासन के साथ औद्योगिक क्रांति का भारत में प्रवेश हुआ। रेल, तार और बाद में वायुयान और रेडियो ने भारतीय जातियों को ऐसी वैज्ञानिक एकता में बाँध दिया, जो पहले सर्वथा असम्भव थी। काल और देश पर इस विजय का श्रेय विज्ञान को है। इस नई व्यवस्था के विरुद्ध जो विप्लव सन् ५७ में हुआ, उसमें हम भारतीय सामन्तों की प्रमुखता पायेंगे। मध्यमवर्ग की सत्ता भारतीय राष्ट्र के निर्माण के साथ मिलेगी।

हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय भावना भारतेन्दु युग से मिलती है। इसके पहले चन्दबरदाई, भूषण आदि कवियों की रचनाओं में हिन्दू—मुसलमानों का संघर्ष मिलता है, जो सामन्तों के परस्पर झगड़ों का ही एक रूप है। भारतेन्दु-युग तक भारत में पूँजीवादी क्रांति हो चुकी है और भारतीय राष्ट्र का रूप स्पष्ट हो रहा है। 'भारत-दुर्दशा' की विचार-धारा एक अर्द्ध-शताब्दी तक हिन्दी कविता को प्रभावित करती रही। भारतीय राज-नीति में मजदूर वर्ग के दर्शन मार्क्सवाद और साहित्य में उसकी प्रतिध्वनि प्रगतिवाद ने काव्य की इस परम्परा को एक नया रास्ता सुझाया।

'भारत-दुर्दशा' के साथ हिन्दी कविता सामंती परंपरा से मुँह मोड़ नई दिशा की ओर घूमी है। इस कविता में रूप और माधुरी की कमी है, किंतु एक तीव्र सामाजिक और राजनैतिक चेतना से यह कविता ओत-प्रोत है।

"रोवहुँ सब मिलि कैं आवहुँ भारत भाई;
हा हा ! भारत दुर्दसा न देखी जाई॥
सबके पहिले जेहि ईस्वर धन, बल दीनो;
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।
सबके पहिले जो रूप-रंग-रस-भीनो;
सबके पहिले विद्या-फल जिन गहि लीनो।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई;
हा—हा ! भारत—दुर्दसा न देखी जाई।

\+ + +

अँगरेज राज-सुख साज सजे सब भारी;
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।
ताहू पै महँगी काल—रोग बिस्तारी;
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा—हारी।
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई;
हा—हा ! भारत-दुर्दसा न देखी जाई।"

'नीलदेवी' में भी यह विचार-धारा प्रधान है। भारत का अतीत गौरवमय था। भाग्य-देवता की इस देश पर कृपा-कोर थी, किन्तु आज अदृष्ट हमारे प्रतिकूल है।

"कहँ करुनानिधि केसव सोए !
जागत नेकु न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए।"

भारतेन्दु-युग के अनेक कवियों में इस जागरण का परिचय मिलता है। इनमें श्री बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, देवीप्रसाद 'पूर्ण', बालमुकुन्द गुप्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री बदरीनारायण चौधरी लिखते हैं—

"भागो-भागो अब काल पड़ा है भारी।
भारत पै घेरी घटा बिपत की कारी॥
सब गए बनज व्यापार हूतै सों भागी।
उद्यम पौरुष नसि दियो बनाय अभागी॥

अब बची-खुची खेती हूँ खिसकन लागी।
चारहुँ दिसि लागी है मँहगी की आगी॥
सुनिये चिलायँ सब परजा भई भिखारी।
भागो-भागो अब काल पड़ा है भारी॥"

आपकी कविताओं में भारत के प्रति अगाध प्रेम है और इस विषय का व्यापक स्पर्श आपकी कृतियों पर है। डा० रामविलास शर्मा की पुस्तक 'भारतेन्दु-युग' में इस काल के कवियों का प्रगतिशील रोल विस्तार से देखा गया है। भारतेन्दु-युग भारतीय राष्ट्रवाद का बढ़ता हुआ युग था, किंतु विदेशी साम्राज्यवाद की दमन नीति के कारण वह आशा-निराशा में परिणत होती गई। इस ऐतिहासिक तथ्य का विवरण हम भारतेन्दु-साहित्य में पाते हैं।

'भारत दुर्दशा' के बाद ऐतिहासिक क्रम से 'भारत-भारती' का नाम आता है। 'भारत-भारती' में भारतेन्दु-युग की अपेक्षा अधिक क्लेश की भावना है। भारतीय पूँजीवाद से विदेशी साम्राज्यवाद की प्रतिद्वंद्विता बढ़ रही है और द्विवेदी युग में पहुँच कर भारतेन्दु-युग की आशाएँ झुलस चुकी हैं। महासमर के बाद भारतीय राष्ट्रवाद अपने शोषकों से अनेक बार मोर्चा लेता है और पराजित होकर भी नई शक्ति धारण करता है इस विषम परिस्थिति का सामना करने की क्षमता न रखनेवाले हिन्दी कवि छायावादी बन गये और धरती से दूर कल्पना के परी-लोक में जाकर बस गये।

'भारत-भारती' में हमें ऊँचे दर्जे की काव्य-कला नहीं मिलती, किन्तु 'भारत-दुर्दशा' की विचार-धारा और भी प्रौढ़ और पुष्ट होकर 'भारत-भारती' में प्रवाहित हुई है। हम अतीत युगों में कितने बढ़े-चढ़े थे, आज कितने दलित और

पतित हैं। विधाता हमारे प्रतिकूल है। यह हिन्दू सामन्ती भावना 'भारत-भारती' का आधार है और एक समय उसकी लोकप्रियता का कारण—

"यद्यपि हताहत गात में कुछ साँस अब भी आ रही,
पर सोच पूर्वापर दशा मुँह से निकलता है यही—
जिसकी अलौकिक कीर्ति से उज्ज्वल हुई सारी मही,
था जो जगत का मुकुट है क्या हाय ! यह भारत वही !"

हमारी राजनैतिक चेतना का वह हिन्दू पुनरुत्थान का आधार अब पीछे छूट गया है और उसके साथ-साथ 'भारत-भारती' की लोक-प्रियता भी कम हो गई है।

द्विवेदी-युग हिन्दी-कविता में राष्ट्रवाद का मध्याह्न काल है। इस युग में 'एक भारतीय आत्मा', 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान, त्रिशूल आदि कवियों का ओजस्वी गाना आकाश में उठा, फिर छायावाद के धूमिल लोक में भटक अब समाजवाद से बल पाकर तीव्रा हो रहा है। द्विवेदी-युग के राष्ट्रीय कवि भारतीय पूँजीवाद के सांस्कृतिक प्रतिरूप हैं। भारतीय पूँजीवाद इस युग में प्रगति का द्योतक है और भारतीय-समाज और संस्कृति को विकास का मार्ग सुझाता है, अतएव इन कवियों की रचना को इतिहासकार प्रगति के अन्तर्गत रक्खेगा।

'एक भारतीय आत्मा' का काव्य बहुत हद तक प्रयोगात्मक है। द्विवेदी-युग के कवि अभी तक भाषा, संगीत आदि काव्य के अवयव बनाने में तल्लीन थे। इस प्रयोग का अन्त छायावादी कविता के साथ हुआ। इन राष्ट्रीय कवियों की वाणी में ओज और सचाई कूट-कूट कर भरी है—

"चाह नहीं, मैं सुर बाला के
गहनों में गूँथा जाऊँ;
चाह नहीं, प्रेमी-माला में
बिंध प्यारी को ललचाऊँ;

चाह नहीं सम्राटों के शव पर
हे हरि ! डाला जाऊँ।
चाह नहीं, देवों के शिर पर
चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ;

मुझे तोड़ लेना वनमाली !
उस पथ में देना तुम फेंक,

मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक।"

श्रीमती चौहान की कविता 'झाँसी की रानी' विख्यात है। उसके पदों की अन्तिम पंक्ति 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी' मेरे कानों को बेहद खटकती है। हमारी राष्ट्रीय कविता का कलात्मक दैन्य उसमें साकार हो उठा है। उस कविता की भाव-धारा भी भारत का सामन्ती अतीत आदर्श के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित प्रवेश करती है। किंतु इस कविता में उच्छ्वास है, बल है और दासता से छुटकारा पाने की लगन है—

"सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नई जवानी थी।
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।

चमक उठी सन सत्तावन में,
वह तलवार पुरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।"

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कविता में राष्ट्रवाद का प्रौढ़ और परिष्कृत रूप हम देखते हैं। 'नवीन' को मजदूर आंदोलन के सम्पर्क से यह चेतना मिली है कि 'इस दुनिया में दो दुनिया हैं' और साथ ही साथ उनकी कला में अधिक सुघड़ता भी है। उनका 'नंगों भूखों का गाना' हिन्दी कविता में एक अभूतपूर्व चीज थी—

सुन लो, गर तुममें हिम्मत है,
नंगों-भूखों का यह गाना,
अब तक के रोने वालों का
यह विकट तराना मस्ताना;

जिनको तुम कीड़ा समझे थे,
वे तो यारो! निकले मानव;

जो रेंगा करते थे अब तक,
वे आज कर उठे हैं ताण्डव;

देखो तो इन उरगों के भी
दो-दो कर-पद उग आये हैं,
इन निपट रेंगने वालों ने
अपने सर आज उठाये हैं...।"

मिल-मालिकों के प्रति 'नवीन' कहते हैं—

"इतना छोटा अस्तित्व और
इतनी लिप्सा ? इतना प्रमाद ?
इतना शोषण ? इतना दोहन ?
इतना यह भैरव शंखनाद ?

... ...

ओ धन-कुबेर सत्तावादी,
ओ निपट कल्पना-शून्य जीव;
अपने विशाल भवनों की क्यों
रखते बालू पर सदा नींव ?

... ...

जग-पीड़न के आधारों पर,
कब स्थायी गृह-निर्माण हुआ ?
विद्वेषों के व्यवहारों से
मानव-मन का कब त्राण हुआ ?

"नवीन" स्वतंत्र भारत को केवल सामन्ती अतीत के पथ पर लौटता नहीं देखते। वह शोषितों और पीड़ितों की मुक्ति का प्रयास भी करते हैं। इस प्रकार हमारी राष्ट्रीय कविता को नई सामाजिक चेतना और शक्ति मिलती है।

छायावादी कवि राष्ट्रवाद के दायरे से निकलते हुए अध्यात्म के धुएँ में खो जाते हैं। पन्त, 'निराला', महादेवी वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन सभी राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव में आए और इन सबों ने राष्ट्रीय भावनाओं की कविता की है। पन्त का 'परिवर्तन' अथवा 'बापू के प्रति' और 'निराला' का 'बादल' और 'जागो फिर एक बार' इसके उदाहरण हैं।

जो उत्साह भारतीय मध्य-वर्ग, भारतेन्दु और द्विवेदी युग से लेकर चला था, उसका अब अंत हो चुका है। आज के युग में पूँजीवाद के लिए संसार भर में संकट है। दो महायुद्धों के बीच के कवि अपनी वर्ग-संस्कृति की रक्षा का कोई उपाय न देखकर क्रन्दन कर उठते हैं।

एक ओर साम्राज्यशाही और दूसरी ओर शोषित जनता की बढ़ती शक्ति को देखकर भारतीय मध्य-वर्ग दुविधा में फँस जाता है और उसकी संस्कृति पलायनवाद अथवा निराशावाद को अपना जीवन दर्शन बना लेती हैं।

राष्ट्रीय परम्परा के अन्तिम कवि 'दिनकर' और सोहनलाल द्विवेदी हैं। जिस युग में 'दिनकर' और अन्य राष्ट्रीय कवि लिख रहे हैं, वह भारतीय राजनीति में समाजवाद के उत्कर्ष का युग है और इन कवियों की रचनाओं पर भी इस नवीन विचार-धारा का प्रभाव पड़ा है, किन्तु इन कवियों की रचना में राष्ट्रवाद का स्वर ही प्रबल है। हम देख चुके हैं कि पूँजीवाद के एक हद तक प्रसार पाने पर इतिहास में राष्ट्रवाद के दर्शन होते हैं। उग्र रूप धारण कर राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद अथवा फासिज्म में परिणत हो जाता है और दूसरे राष्ट्रों का शोषण अपनी नीति बना लेता है। फैलता हुआ राष्ट्र अथवा पूँजीवाद कच्चे माल और बाजारों की खोज में कमजोर देशों पर अधिकार जमा लेता है और इस प्रकार साम्राज्यवाद का जन्म होता है।

भारतीय पूँजीवाद के सामने अपने जीवन-मरण की समस्या है। इस वर्ग के कवि राष्ट्रवाद के स्वर को आज प्रगति का स्वर कहकर ऊपर उठा रहे हैं, किन्तु क्या उन्हें यह चेतना प्राप्त है कि स्वाधीन भारत में राष्ट्रवाद एक प्रतिगामी शक्ति हो सकता है। राष्ट्रवाद की कविता केवल उच्छ्वास की कविता है। उसका कोई ठोस वैज्ञानिक आधार नहीं। इसका प्रमाण हमें 'हुंकार' में मिलता है। 'हुंकार' में विध्वंस की प्रबल भावना है, किंतु किस नवीन की स्थापना पुरातन के स्थान पर कवि चाहता है, इसका कोई आभास नहीं मिलता। 'दिनकर' की वांछित क्रान्ति का चित्र 'विपथगा' शीर्षक कवि में मिलता है।

> **"मेरी पायल झनकार रही तलवारों की झनकारों में**
> **अपनी आगमनी बजा रही मैं आप क्रुद्ध हुंकारों में**
> **मैं अहंकार-सा कड़क उठा हँसती विद्युत की धारों में**
> **बन काल हुताशन खेल रही पगली मैं फूट पहाड़ों में**
> **अँगड़ाई में भूचाल, साँस में लंका के उनचास पवन**
> **झन-झन-झन झन झन झनन-झनन......"**

प्रगतिवादी आन्दोलन के साथ-साथ हिन्दी कविता में भी युगांतरकारी परिवर्तन हो रहे हैं। यह कविता लोकगीतों को अपना माध्यम बनाती है, क्योंकि उसका ध्येय जनसाधारण तक पहुँचना है। इस कविता को यह चेतना भी प्राप्त है कि देश की स्वाधीनता का अर्थ शोषित वर्गों के जीवन में परिवर्तन होगा। इस नवीन धारा के प्रमुख कवि पन्त, नरेन्द्रशर्मा, अंचल, सुमन आदि हैं। 'परिवर्तन' और 'बापू के प्रति' लिखनेवाले पन्त ने 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' की सृष्टि की है जहाँ वह समाज की निम्नतम दलित श्रेणियों की मुक्ति चाहते हैं। नरेन्द्र शर्मा ने 'लाल-निशान' शीर्षक कविताएँ लिखकर हिन्दी में लोकगीतों की एक नई परिपाटी को जन्म दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रगतिवादी कवि हमारे काव्य की राष्ट्रीय परम्परा को एक नई दिशा सुझाते हैं और हिन्दी कविता का संसार की श्रेष्ठतम विचार-धारा समाजवाद से सीधा संबंध स्थापित करते हैं।

--o--

१२

पन्त के काव्य की प्रगति

पन्त जी की कविता से मेरा प्रथम परिचय सन् १६२४–२५ के लगभग हुआ, जब मैं कानपुर में हाईस्कूल कक्षा में पढ़ रहा था। उन दिनों 'सरस्वती' में प्रति मास पन्त जी की कविताएँ नियमित रूप से प्रकाशित हो रही थीं और मेरे समान पाठक उन्हें बड़े चाव से पढ़ते थे। इसमें सन्देह नहीं कि इन कवि-ताओं से पाठक की कल्पना के पंख खुले थे, प्रकृति के सौन्दर्य्य की ओर उसका मन खिंचा था और एक नई ही मधुर और कोमल भाषा वह सीख सका था। इस कविता में एक अद्भुत, नूतन रूप-लावण्य था, जो अब तक हिन्दी के पाठक को कहीं न मिला था। आधुनिक हिन्दी कविता का यह प्रौढ़तम रूप था।

"अरे, ये पल्लव-बाल !
सजा सुमनों के सौरभ-हार
गूँथते थे उपहार;
अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल
नहीं छूटी तरु-डाल;
विश्व पर विस्मित-चितवन डाल,
हिलाते अधर-प्रवाल !"

इन कोमल सुकुमार पंक्तियों में 'निराला' जी को ही दोष मिला था। 'माधुरी' में 'पल्लव' की रोषपूर्ण आलोचना करते हुए आपने लिखा था कि पल्लव हिलते हैं, जान-बूझकर अधर-प्रवाल हिलाते हुए उनकी कल्पना प्रिय नहीं लगती। तात्पर्य यही था, शब्द शायद कुछ दूसरे थे। 'माधुरी' के छै अंकों में यह आलोचना पूरी हुई थी, किन्तु उदार-प्राण 'निराला' छै महीने तक रुष्ट न रह सके और छठे अंक में 'पल्लव' की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए पवित्र गंगा-जल से कवि ने इस काव्य की तुलना की थी।

बाद में यह भी मालूम हुआ कि 'वीणा' की भूमिका से स्वर्गीय महावीर

प्रसाद द्विवेदी बहुत कुपित हुए थे और उनके सन्तोष के लिए इंडियन प्रेस ने पन्त जी से प्रार्थना करके इस भूमिका को अलग करवा दिया था। 'पल्लव' की लम्बी भूमिका में पन्त जी ने अपना काव्यादर्श प्रकट किया। वे ऐसी कविता चाहते थे जिसमें "पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्ध, जल-स्थल, अनिल-आकाश, ज्योति-अन्धकार, वन-पर्वत, नदी-घाटी, नहर-खाड़ी, द्वीप-उपनिवेश; उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौन्दर्य्य, उष्ण-शीत-प्रधान देशों के वनस्पति-वृक्ष, पुष्प-पौधे, पशु-पक्षी; विविध-प्रदेशों का जलवायु, आचार-व्यवहार, जिसके शब्दों में वात-उत्पात, वह्नि-बाढ़, उल्का-भूकम्प सब कुछ समा सके, बाँधा जा सके; जिसके पृष्ठों पर मानव-जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, आवर्तन-विवर्तन, नूतन-पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके; जिसकी अलमारियों में दर्शन-विज्ञान, इतिहास-भूगोल, राजनीति-समाजनीति, कला-कौशल, कथा-कहानी, काव्य-नाटक सब कुछ सजाया जा सके।"

इससे स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि विस्तृत और व्यापक थी। उसने आरंभ में पाठक की कोमल, सूक्ष्म अनुभूतियाँ जगाई थीं, उसे एक नये काव्य-सङ्गीत से परिचित कराया था, अपनी 'वीणा' के तारों के कम्पन से उसकी भावनाओं में सिहरन पैदा की थी। 'परिवर्त्तन' में ही कवि ने अपनी प्रेरणा को ज्वालामुखी रूप दिया था। यह ठीक है कि पन्त भावना-प्रधान कवि नहीं हैं, वे चिन्तन-प्रधान और कल्पना-प्रधान कवि हैं। उनकी कविता का स्पर्श शीतल वायु के समान है। किन्तु देश और समाज की स्थिति को देखकर कवि का हृदय हाहा-कार कर उठता है, उसकी भावनाएँ विचलित हो जाती हैं और उसकी कविता 'शान्ति के क्षणों में भावनाओं की स्मृति' नहीं रहती। 'परिवर्त्तन' में कवि-हृदय का रुदन मानो फूट कर निकला है :

"आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला-पात !
चार दिन सुखद चाँदनी रात,
और फिर अन्धकार अज्ञात !

+ + +

"खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण;
अभी उत्सव औ' हास-हुलास,
अभी अवसाद, अश्रु, उच्छ्वास !

अचिरता देख जगत की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास,
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश;
सिसक उठता समुद्र का मन,
सिहर उठते उडगन !"

अगले अनेक वर्षों में पन्त के काव्य में इसी प्रवृत्ति का विशेष विकास हुआ। 'गुंजन' में कवि ने अस्फुट स्वर में गीत गुनगुनाए। गीत की टेक थी :

"जग पीड़ित है अति-दुख से,
जग पीड़ित रे अति-सुख से,
मानव-जग में बँट जावें
दुख-सुख से औ' सुख दुख से।
अविरत दुख है उत्पीड़न,
अविरत सुख भी उत्पीड़न,
दुःख सुख की निशा-दिवा में
सोता-जगता जग-जीवन।"

पन्तजी के अनुसार 'सा' से उनकी 'वाणी का सम्वादी स्वर' 'रे' होकर 'उन्नति का क्रम' प्रकट कर रहा था। गीत की मधुर पीड़ा के साथ साथ कवि-हृदय दुख-सुख की समस्या से भी अवश्य अधीर हो रहा था। प्रकृति सदैव ही पन्त के काव्य का केन्द्रीय विषय रही है; किन्तु 'गुंजन' और 'युगान्त' सूचना थे कि प्रकृति के साथ मनुष्य को भी कवि ने अपने हृदय के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में कवि-वाणी का प्रमुख गुण पौरुष हो रहा था; आलोचक के शब्दों में कवि की प्रेरणा अधिक 'मांसल' हो रही थी। इस शब्द के प्रयोग का बाहुल्य भी 'युगान्त' में है।

हम पन्त के काव्य को तीन युगों में बाँट कर देख सकते हैं। पहला काल 'पल्लव' और 'वीणा' का है। 'गुंजन' और 'युगान्त' उसके काव्य में परिवर्तन की सूचना है। दूसरे काल में 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' की रचना हुई। तीसरा काल 'स्वर्ण-रश्मि', 'स्वर्ण-धूलि', 'रजत-शिखर' और 'उत्तरा' का है।

द्वितीय काल की कविता भी हिम-शीतल है, उष्ण लावा नहीं। किन्तु पर्वतों की ऊँचाई से अवश्य ही यह कविता निकली है। यह सन् १६३६-६ का समय था। पूरे विश्व पर दुर्दमनीय फासिज्म का आतंक था; बुद्धिजीवी मार्क्सवाद की

ओर वेग से बढ़ रहे थे। पन्त जी भी इसी विचार-भूमि पर खड़े होकर जग-जीवन और इतिहास को देखते हैं। उनकी भाषा अधिक सरल और जन-सुलभ हो रही है। उनकी कल्पना गंगा की भाँति आकाश से पृथ्वी पर उतर कर कल्याणी का रूप धरती है। उनकी प्रेरणा नई उपमाएँ खोजती हैं और एक नया ही संगीत उनकी वाणी में भरता है।

'नव-दृष्टि' शीर्षक कविता में कवि ने लिखा :

"खुल गए छंद के बंध,
प्राश के रजत पाश,
अब गीत मुक्त,
औ' युगवाणी बहती अयास !

+ + +

"सुंदर, शिव, सत्य
कला के कल्पित माप-मान
बन गए स्थूल,
जग-जीवन से हो एक प्राण !"

कवि की भाषा का नया स्वरूप देखिए :

"मेरे आँगन में, (टीले पर है मेरा घर)
दो छोटे से लड़के आ जाते हैं अकसर।
नंगे तन, गदबदे, साँवले, सहज छबीले,
मिट्टी के मटमैले पुतले, पर फुर्तीले।"

सभी कुछ मिट्टी के प्रति कवि की प्रेरणा का आकर्षण व्यक्त करता है। कवि का नया विचार-दर्शन 'मार्क्स के प्रति' कविता में प्रकट हुआ है :—

"साक्षी है इतिहास, किया तुमने दुन्दुभि से घोषित,—
प्रकृति विजित कर, मानव ने की विश्व सभ्यता स्थापित।
विकसित हो, बदले जब जब जीवनोपाय के साधन,
युग बदले, शासन बदले, कर गत सभ्यता समापन।

× × × ×

"दिग् दिगंत में व्याप्त, निखिल युग युग का चिर गौरव हर,
जन संस्कृति का नव विराट् प्रासाद उठेगा भू पर,

धन्य मार्क्स ! चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर,
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु-से प्रकट हुए प्रलयंकर।''

'युगवाणी' में कवि ने 'युग के गद्य' को वाणी देने का प्रयत्न किया था। 'ग्राम्या' में वह ग्राम-जगत् पर अपनी नवीन, उन्मुक्त दृष्टि डालता है, यहाँ के रोम-रोम में वह सुख, सुन्दरता और समृद्धि भरना चाहता है। विनयपूर्ण स्वर में वह कहता है कि उसने भारतीय ग्राम-जीवन को केवल 'बौद्धिक सहानुभूति' से देखा है, किन्तु निस्सन्देह ही 'ग्राम्या' में कवि की अनेक सर्वश्रेष्ठ कविताएँ संगृहीत हैं। यदि यह कहने में आलोचक को सङ्कोच हो कि 'ग्राम्या' पन्त जी की प्रौढ़तम कृति है, तो 'पल्लव' और 'ग्राम्या' को वह अवश्य ही एक साथ रक्खेगा।

कवि कहता है :

''यहाँ न पल्लव वन में मर्मर,
यहाँ न मधु विहगों में गुंजन,
जीवन का संगीत बन रहा
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन !
'यहाँ नहीं शब्दों में बँधती
आदर्शों की प्रतिमा जीवित,
यहाँ व्यर्थ है चित्र गीत में
सुंदरता को करना संचित !''

'ग्राम्या' की श्रेष्ठ कविताओं में एक 'ग्राम युवती' है। ग्राम युवती के वर्णन में कवि का प्रेरणा-स्रोत उमड़कर फूटा है :—

''उन्मद यौवन से उभर
घटा सी नव असाढ़ की सुंदर,
अति श्याम वरण,
श्लथ, मंद चरण,
इठलाती आती ग्राम युवति
वह गजगति
सर्प डगर पर !''

किन्तु दो दिन में ही ग्राम्या का यौवन-धन नष्ट हो जाता है :—

"रे दो दिन का
उसका यौवन !
सपना दिन का
रहता न स्मरण !
दुःखों में पिस
दुर्दिन में घिस,
जर्जर हो जाता उसका तन !
ढह जाता असमय यौवन धन।
बह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हँस खेला कुछ क्षण !!"

'ग्राम-देवता' कविता में कवि समाज के इतिहास पर एक विहंग दृष्टि डालता है। भारतीय जीवन के सभी अन्ध-विश्वासों और पाखंडों को कवि ग्राम-देवता के रूप में देखता है। वह उसी ग्राम देवता की छवि कविता में उतारता है, जो गाँवों के घर-घर में प्रतिष्ठित है :

"तुम स्थिर, परिवर्तन रहित, कल्पवृत एक याम,
जीवन संघर्षण विरत, प्रगति पथ के विराम,

× × ×

"दिखलाया तुमने भारतीयता का स्वरूप,
जन मर्यादा का स्रोत शून्यचिर अन्ध कूप,
जग से अबोध, जानता न था मैं छाँह धूप,
तुम युग-युग के जन-विश्वासों के जीर्ण स्तूप !"

'ग्राम्या' में कवि की प्रेरणा का प्रवाह कितना तरल और वेगवान है, यह इस संग्रह की अनेक कविताएँ प्रकट करती हैं। प्रबल प्रेरणा से कवि के स्वर में अयास ही गीत की ध्वनि भर जाती है। 'सन्ध्या के बाद' :—

"सिमटा पंख साँझ की लाली
जा बैठी अब तरु शिखरों पर,
ताम्रपर्ण पीपल से, शतमुख
झरते चंचल स्वर्णिम निर्झर।

× × ×

"जाड़ों की सूनी छाया में
झूल रही निशि छाया गहरी,
डूब रहे निष्प्रभ विषाद में
खेत, बाग, गृह, तरु, तट, लहरी।"

प्रथम काल में कवि ने वीणा के तार छुए थे, उसकी कोमल कल्पना ने प्रकृति का हास-विलास देखा था, उसकी दृष्टि व्योम-विहारिणी थी, यद्यपि उसने अपने राष्ट्र का ह्रास और पतन भी देखा था और इससे उसका हृदय क्षुब्ध और व्यथित था। दूसरे काल में उसकी कल्पना धरती की कुरूपता का आह्वान करती है, उसका राष्ट्र-प्रेम सामाजिक न्याय की भूमिका से परिपूर्ण होता है, उसकी कोमल वाणी में किंचित कठोर ध्वनि भरती है। तृतीय काल में एक बार फिर कवि पारलौकिक स्वप्नों की दुनिया का वरण करता है। श्री अरविन्द के विचार-दर्शन से प्रभावित होकर वह ऊर्ध्वगामी मानव का स्वप्न देखता है। अब भी प्रभात, संध्या और निशा का सौन्दर्य उसे विचलित करता है, अब भी वह सुखी मानव की कल्पना करता है, किन्तु अब वह सुख की खोज मानव-मन की गहरी परतों में करता है।

तृतीय काल में पन्तजी ने सबसे अधिक कविताएँ लिखी हैं, किन्तु इनमें से अनेक पद्य-बद्ध रचनाएँ मात्र हैं। अब भी कवि का मन प्रकृति के पार्थिव रूप-लावण्य से विचलित हुआ है। किन्तु ऐसी रचनाओं की संख्या अब कम हो गई है। रेशमी, झीने, झिलमिल पर्दों से कवि जीवन को देख रहा है और अब धुँधलका ही अधिक है।

'स्वर्ण-धूलि' में कवि कहता है :

"यह मेरा दर्पण चिर मोहित,
जीवन के गोपन रहस्य सब,
इसमें ऐसे शब्द तरंगित।
कितने स्वर्गिक स्वप्न शिखर
माया की प्रिय घाटियाँ मनोरम,
इसमें जगते इन्द्र-धनुष से,
कितने रंगों के प्रकाश तम।..."

जिस जग की कवि कल्पना करता है, वह इस प्रकार है :

"प्रीति मुक्त हो बने न बंधन,
विरह मिलन देवें आलिंगन,

हो प्रतीति-मन नर नारी जन,
दिशि-दिशि ज्वाल जलाओ।
आज वसन्त विचरता भू पर,
नव पल्लव के पंख खोल कर,
नवल चेतना की स्वर्णिम रज,
गन्ध समीर उठाओ।......"

अपनी काव्य-यात्रा के तृतीय चरण में पन्तजी ने सबसे अधिक लिखा है: 'स्वर्ण-रश्मि', 'स्वर्ण-धूलि', 'उत्तरा', 'रजत-शिखर', आदि। इन रचनाओं में कुछ रेडियो के लिए लिखे रूपक भी हैं, इन कविताओं में आकाश-कुसुम तोड़ने का काफ़ी आग्रह है, किन्तु यह कहना अनुचित होगा कि कवि इस पृथ्वी को अधिक सुखी और संपन्न नहीं देखना चाहता है। वह अवश्य ऐसा चाहता है, केवल इस क्षण-भंगुर जीवन को उसका योगी-मन अधिक महत्व नहीं दे पाता। परलोक के स्वप्न उसकी कविता को शक्ति देने में असमर्थ हैं, जब तक उसकी भावनाओं का ज्वालामुखी इस धरती के दुःख से अधीर होकर नहीं फूटता, तब तक उसकी कविताएँ प्रथम और द्वितीय काल की रचनाओं की समता नहीं कर सकेंगी। अब भी जब कवि की प्रेरणा इस धरती से संबंध स्थापित करती है, वह ऊँची उड़ानें लेती है। 'यह धरती कितना देती है' शीर्षक कविता देखिए:

"मैंने छुटपन में छिप कर पैसे बोए थे,
सोचा था, पैसों के प्यारे पेड़ उगेंगे,
रुपयों की कलदार मधुर फसलें खनकेंगी,
और फूल फलकर मैं मोटा सेठ बनूँगा।
"पर बंजर धरती में एक न अंकुर फूटा,
बंध्या मिट्टी ने न एक भी पैसा उगला!
सपने जाने कहाँ मिटे, सब धूल हो गए!
मैं हताश हो बाट जोहता रहा दिनों तक—

× × ×

"यह धरती कितना देती है! धरती माता
कितना देती है अपने प्यारे पुत्रों को!—
नहीं समझ पाया था मैं उसके महत्व को
बचपन में!- छिः स्वार्थ लोभवश पैसे बोकर!

"रत्न प्रसविनी है वसुधा, अब समझ सका हूँ
इसमें सच्ची समता के दाने बोने हैं,
इसमें जन की क्षमता के दाने बोने हैं
इसमें मानव ममता के दाने बोने हैं—
जिससे उगल सके फिर धूल सुनहरी फसलें
मानवता की—जीवन श्री से हँसें दिशाएँ
हम जैसा ही बोएँगे, वैसा ही पावेंगे।"

इन पंक्तियों को पढ़कर अनायास ही मन में प्रश्न उठता है, क्या एक बार फिर पन्त की कविता नई दिशा लेगी। धरती के प्रति कवि को मोह फिर एक बार बढ़ रहा है। कवि पन्त ने अपनी विचारधाराओं के प्रति कभी अनावश्यक मोह नहीं रखा। छायावाद से प्रगतिवाद और प्रगतिवाद से अरविन्दवाद की ओर उनका विकास यह स्पष्ट करता है। आज फिर कवि की दृष्टि आकाश-कुसुम को छोड़कर धरती के नन्हें फूलों की ओर मुड़ रही है। क्या यह कवि की दृष्टि में बड़े परिवर्त्तन की सूचना है? आलोचक और पाठक के मन में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है। कवि की यात्रा के अगले चरण इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट करेंगे।

———

१३

आधुनिक हिन्दी कविता

आधुनिक हिन्दी कविता का आरम्भ हम भारतेन्दु के युग से करते हैं, जब इसने मध्यकालीन परम्परा से अपना नाता तोड़ा। बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में, द्विवेदी युग में यह काव्य एक निश्चित दिशा अपनाता है, जब खड़ी बोली की कविता और गद्य-रचना दोनों के ही लिए हिन्दी का सर्वमान्य रूप लेती है। छायावादी धारा के साथ आधुनिक हिन्दी कविता पूर्ण वयस्क होती है, जब वह अभिव्यक्ति में पूर्णता और परिपक्वता प्राप्त करती है, साथ-ही-साथ भावनाओं और कल्पना में परिमार्जन भी। इस युग के सूत्रधार चार सुपरिचित व्यक्तित्व हैं : प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा।

हमारे राष्ट्र का जीवन नये सांस्कृतिक पुनर्जन्म की पीड़ा से गुज़र रहा था, इसमें अतीत के ऐसे अनेक अवशेष भी थे, जो इससे बरबस लिपटे हुए थे। नये युग के गायक की आत्मा पर कोई भारी पत्थर-सा बोझ भी दबा रहा था। उसके लिए ऊँची उड़ान लेना असम्भव हो रहा था, क्योंकि अपने देश में वह पीड़ा, क्रूरता और उत्पीड़न चतुर्दिक देख रहा था। इस काव्य में विदेशी दासता का विषय बारम्बार प्रकट होता है और दासता की इस चेतना से छुटकारा पाना आसान नहीं होता।

पन्त ने 'पल्लव' में उषा और रात्रि के सौन्दर्य का अंकन किया। उन्होंने दूर कुछ अस्फुट, मर्मर ध्वनि सुनी, जो उनकी आत्मा को कल्पना के स्वप्निल और सुनहले संसार में आने का निमन्त्रण दे रही थी, लेकिन उनके पैर वर्तमान चेतना ने बाँध रखे थे। 'पल्लव' की सर्वश्रेष्ठ रचना 'परिवर्तन' है जिसमें वह देश के पतन पर शोक प्रकट करते हैं।

निराला और महादेवी वर्मा ने भी विदेशी शासन के नीचे दबी और पिसी भारतीय आत्मा की आकांक्षाएँ, निराशा और पीड़ा अपने काव्य में व्यक्त कीं। यह वास्तविकता भारतीय कवि की चेतना में बहुत गहरा घर बना चुकी थी और उसके साहित्य में किसी न किसी रूप में निरन्तर प्रकट हो रही थी। निराला की

आत्मा रूढ़ि और परम्परा के प्रस्तर-बन्धनों को तोड़ने के लिए अधीर हो रही थी। वह अपनी प्रेरणा को भग्न संगीत और उपमाओं के कंकरीले पथ पर चलने का आमन्त्रण देते हैं।

निराला का काव्य और वास्तव में सभी आधुनिक हिन्दी काव्य गहरी वेदना और दुःख की भावना में डूबा हुआ है। कवि वेदना को अपना धर्म ही बना लेता है, इसके सागर में डूबता-उतराता है, उसे अपने जीवन का आभूषण मान लेता है, क्योंकि इस गहन अन्धकार के पार ले जानेवाला कोई पथ उसे नहीं दीखता।

महादेवी वर्मा के गीतों में निराशा की यह भावना अत्यन्त मधुर और संगीत-मय रूप धारण करती है। उनकी भाषा स्फटिक के समान शुभ्र और स्निग्ध है, और इस पर पीड़ित भारतीय मानवता के आँसू अद्भुत शिल्प और कला सजा में प्रगट होते हैं।

महादेवी वर्मा की काव्य-प्रेरणा उनकी अन्तिम पुस्तक 'दीप शिखा' में तीव्र-तम अभिव्यक्ति पाती है। इस रचना में आँधी और तूफानों की भावना है, आत्मा की अशान्ति है, जो पहले के ग्रन्थों में दबी-दबी सी रही थी और निश्चित ही हल्के स्वर में थी। विध्वंस हरहराता हुआ है। गायिका अपने सब सुकुमार सपनों को उँगलियों की ओट में बचा लेने की विफल आशा रखती है।

पिछले युग के पथदर्शक आज विचित्र मौन धारण किये हैं, या अपने काव्य में प्रेरणा के स्रोत क्षीण पड़ने के लक्षण प्रकट कर रहे हैं। पिछले लग-भग दस वर्षों से महादेवी वर्मा का कोई काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ, मासिक पत्रों में उनकी कविताएँ कभी-कभी दिखाई पड़ती हैं, किन्तु इनकी संख्या भी बहुत कम हो गई है। लेकिन इन रचनाओं में हम उनके काव्य का वही दुर्लभ अन्यतमत्व देखते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मृत्यु पर लिखी कविता, अकाल पीड़ित बंग-भू की वन्दना, शान्ति की आकांक्षा व्यक्त करते हुए वैदिक मन्त्रों के अनुवाद सभी हिन्दी काव्य का श्रेष्ठतम् रूप पाठक के सामने लाते हैं। यह भी सच है कि विराम चिन्ह दीर्घ हो रहे हैं।

निराला के काव्य-संकलन बीच-बीच में निकलते रहे हैं और वे भाषा, छन्द और उपमाओं में प्रयोग करते रहे हैं। उनके गीत का स्रोत सूखा नहीं है, फिर भी उनका कण्ठ रुद्ध अवश्य हो रहा है। उनके काव्य के नवीन रूप ने अनेक बहसें हिन्दी आलोचना में छेड़ी हैं, और यद्यपि इसमें बहुत कुछ मूल्यवान और प्रतिभाशाली है, फिर भी इस का बहुत-सा अंश अनुशासन-शिथिल होने

का सूचक है, और यह शिथिलता उत्तरोत्तर बढ़ रही है। इसका कारण शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ शायद हों, लेकिन ये सभी लक्षण उसी एक आधारभूत सामाजिक रोग के हैं, चाहे इसकी अभिव्यक्ति भिन्न रूपों में हो रही हो।

निराला 'कुकुरमुत्ता' को लक्ष्य करके गीत लिखते हैं और गुलाब की भर्त्सना करते हैं। अपनी सभी अतिशयोक्तियों और विचित्रताओं के बावजूद कवि समाज पर हँस रहा है, साहित्य पर और प्रयोग के प्रति आग्रह पर हँस रहा है। वह सभी पर हँस रहा है, किन्तु इस कठोर अट्टहास के पीछे अवश्य ही कोई करुण व्यथा छिपी है कवि ने ग़ज़ल और उर्दू के अन्य छन्दों के प्रयोग किये हैं, और हिन्दी कविता में एक नये संगीत की सृष्टि की है।

छायावाद के प्रवर्त्तकों में पन्त ही अपनी पुरानी गति से कविता लिखते चले आ रहे हैं। उनके काव्य ग्रन्थ 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' और 'उत्तरा' कवि के मन पर अरविन्द-दर्शन का गहरा प्रभाव प्रकट करते हैं। पन्त का कवि-जीवन अनेक मंज़िलों में गुज़रा है। आरम्भ में वे प्रकृति के कवि थे, और निरन्तर विश्व के सौन्दर्य और मानव के दैन्य से विस्मित और चकित होते थे। सन् १९३० के पश्चात् वे ऐसे समाज के गीत गाने लगे, जो शोषण और उत्पीड़न-रहित हों। 'ग्राम्या' में, जो उनकी सबसे सबल रचना है, उन्होंने भारतीय नारी के मर्मस्पर्शी चित्र खींचे और अपनी रचना में ग्राम-जगत को उसके समस्त सौन्दर्य और विभूति में प्रस्तुत किया। इस संकलन की रचना 'ग्राम देवता' उनकी रचनाओं में आसानी से सर्वोत्कृष्ट कही जा सकती है। सन् १९४२ के बाद पन्त का काव्य अपना तीसरा मोड़ लेता है। वह न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की अपनी आकांक्षा आज भी अपनाये हुए हैं, लेकिन इन विषमताओं से त्राण पाने के लिए अब वह अध्यात्म की शरण लेते हैं।

नई पीढ़ी के कवियों में नरेन्द्र शर्मा बहुत प्रतिभाशाली थे। उनके गीत गहरी भावना में पगे थे, और उनकी दृष्टि में व्यापक सामाजिक चेतना थी। वह वेग से निराशा में डूबे गीतों की रचना कर रहे थे, किन्तु प्रस्तावनाओं के रूप में इस निराशा की बड़ी वैज्ञानिक और मर्मस्पर्शी व्याख्या भी आप साथ-ही-साथ कर रहे थे। पन्त के समान इधर नरेन्द्र शर्मा भी अध्यात्मवाद की ओर झुके हैं, और इस नये प्रभाव की छाप उनकी कविता पर है। जो सृजन शक्ति 'पलाश-वन' और 'मिट्टी के फूल' में थी, वह आज हम कवि के नये प्रयासों में नहीं पा रहे हैं।

'सुमन' नई पीढ़ी के कवियों में विशेष शक्ति-सम्पन्न हैं। पिछले वर्षों में

उन्होंने कम लिखा था, किन्तु उनकी कविता 'दीपावली' उनके काव्य को एक मंज़िल और आगे पहुँचाती है।

नागार्जुन और गिरिराजकुमार माथुर के नाम भी हमारे सम्मुख आते हैं। नागार्जुन की व्यंगात्मक कविताएँ कभी-कभी खुरदुरी और ऊबड़-खाबड़ होती है, किन्तु वह चट्टान की भाँति मजबूती भी रखती हैं। गिरिजाकुमार माथुर अपने काव्य के पहले दौर में समृद्ध उपमाओं और शब्द चित्रों के विशेष उपासक रहे हैं, किन्तु 'एशिया का नवजागरण' आदि उनकी बाद की कविताओं में नया ही ओज, पौरुष और बल है। उनकी कुछ कविताएँ यह भी सुझाती हैं कि सामाजिक तत्वों और शिल्प शृंगार की होड़ उनकी कविता में आज भी चल रही है।

'तार सप्तक' के और भी अनेक कवि, नेमिचन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे, गजानन मुक्तिबोध, भारतभूषण अग्रवाल अच्छी काव्य-रचना करते रहे हैं, किन्तु इनकी काव्य-रचना में, न रूप में और न तत्व में कोई गुणात्मक परिवर्तन हुआ है।

हिन्दी की विकासमान प्रतिभाओं में भवानीप्रसाद मिश्र, शमशेर बहादुर सिंह, हरि व्यास और नरेशकुमार मेहता के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। यह सब 'दूसरा सप्तक' के कवि हैं। इन युवा कवियों की रचनाओं में गहरी सामाजिक चेतना है, अनुभूति की सचाई है, प्रकृति की सुन्दरता के प्रति तीव्र संवेदना और शब्दों के लिए गहरा मोह है।

इस समूह के सबसे तरुण कवि नरेशकुमार मेहता ने सबसे ऊँची उड़ान भी ली है। प्रयोगवाद के खोल को फोड़कर उनकी प्रेरणा नई शक्ति ग्रहण कर रही है। जब इस समूह के अन्य कवि अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा आकर्षक संगीत, ध्वनियों, उपमाओं, रूपकों और शब्द-चित्रों की खोज में व्यय कर रहे हैं, नरेशकुमार मेहता अपनी काव्य-प्रेरणा के लिए निरन्तर क्षितिज खोलते जा रहे हैं। 'तार सप्तक' अनेक कवि प्रयोग की सतत खोज में रूढ़िवादी हो गये हैं; किन्तु 'दूसरा सप्तक' आशा दिलाता है कि नये कवि अपने विकास के द्वार खुले रखेंगे।

शंकर शैलेन्द्र, शील, शंभूनाथ सिंह, त्रिलोचन शास्त्री और ठाकुरप्रसाद सिंह बिचली पीढ़ी के कवि हैं, सभी ने हिन्दी कविता का भण्डार अक्षय बनाया है; ठाकुरप्रसाद सिंह के सन्थाली लोक गीतों के सङ्गीतमें अनुवाद किये हैं, जो बहुत लोकप्रिय हुए हैं।

आधुनिक हिन्दी कविता की विवेचना करने में 'अज्ञेय' का उल्लेख अनिवार्य है। उनमें प्रतिभा है। अपने काव्य-सिद्धान्तों में 'अज्ञेय' टी० एस० इलियट की परिभाषा स्वीकार करते हैं। 'कविता व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं, वरन् व्यक्तित्व से मोक्ष है; लेकिन प्रश्न वास्तव में उस व्यक्तित्व का है जो साहित्य में प्रकाश पा रहा है—वह किस धातु का बना है, जीवन के प्रति उसमें कितनी संवेदना और आस्था है? 'अज्ञेय' के काव्य में कलात्मक प्रयोगों को बहुत महत्त्व दिया है। प्रयोगवाद में ह्रास के अनेक तत्व हैं। 'अज्ञेय' के कुछ प्रयोगवादी प्रशंसक अवश्य ही विचित्र उपमाओं, शब्दावली और ध्वनियों को ही प्रगति का पर्याय मानने लगे हैं।

कविता जीवन के प्रति निष्ठा खोकर और उससे दूर होकर नवीन शब्दावली और नया सङ्गीत नहीं रच सकती; पर जब कवि समाज की जागरूक शक्तियों से अपना सम्बन्ध जोड़ता है। उसका प्रेरणा-स्रोत कभी नहीं सूख सकता।

भारतीय समाज में सांस्कृतिक नवजागरण की शक्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। कवि के गीत को संसार में कोई शक्ति नहीं दबा सकती, यदि उसकी दृष्टि में सामर्थ्य है और वह देख सकता है कि रात के लम्बे अन्धकार के बाद भी पूर्व में उषा की किरण अवश्य ही फूटेगी।

१४

नयी हिंदी कविता

कविता में मनुष्य की सूक्ष्मतम अनुभूतियों और भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। यह अनुभूतियाँ और भावनाएँ जीवन के प्रति कवि की मानसिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं और उनके पीछे व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से कवि का जीवन-दर्शन अथवा उसकी जीवन-दृष्टि भी निहित होती है। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि कविता जीवन के प्रति कवि दृष्टि की सूक्ष्म और कोमल अनुभूतियों को प्रगट करती है। सदा ही कवि की भावनाएँ और अनुभूतियाँ कोमल हों, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। अनेक महान विश्व कवि अपने महाकाव्यों में उग्र रूप प्रकट करते हैं, उदाहरण के लिये मिल्टन अपने 'पैरेडाइज़ लॉस्ट' में। अनेक कवि जीवन-संग्राम में विह्वल होकर कूदते हैं, उनके काव्य में वीर अथवा रौद्र रस का परिपाक हमें मिलता है। आज के कवियों में अकसर हम इस प्रकार की अभिव्यक्ति पाते हैं। वे अपनी जाति और मानवता की स्वाधीनता के लिये तन्मयता से लिखते हैं; इस प्रकार के कवि पाब्लो नेरूदा और अरागों हैं। उनकी कविता कोमल मनोदशाओं की अभिव्यक्ति हो सकती है; ऐसे कवि पॉल एलुआर थे। नागार्जुन अथवा केदार के काव्य में हम रण की हुँकार सुनते हैं; भारत भूषण की कविता में 'नाग, बीन और सपेरे' की असमर्थता और असहायता को स्वर मिलता है। अनेक रूपों में कवि की गहरी मानवीय संवेदनाएँ कविता में प्रकट होती हैं।

यह सच है कि कवि के परिवेश और उसकी भावनाओं में घात-प्रतिघात चला करता है, किन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा कि कविता में सदा इस संघर्ष का अंकन होना ही चाहिए। भावनाओं और परिवेश में सदा संघर्ष नहीं चल सकता; कहीं न कहीं उनमें तादात्म्य भी स्थापित होता है और कविता उस व्यक्तित्व को स्वर देती है। पाठक और आलोचक का यह भी आग्रह हो सकता है कि यह सन्तुलन अथवा तादात्म्य ऊँचे स्तर पर हो। कवि अपने अहम् को अधिक महत्व देकर गिर सकता है, अथवा अपने व्यक्तित्व को तपाकर और

निखार कर उसे उच्चतम अभिव्यक्ति भी दे सकता है। व्यक्ति और समाज का द्वंद्व अधिक सामाजिक अथवा अधिक असामाजिक प्राणी के रूप में विराम पाता है। प्रश्न यह नहीं है कि कवि अपने व्यक्तित्व का बलिदान करे, वरन् यह है कि व्यक्तित्व को अधिक उदात्त रूप दे, उसे उठाये।

यह भी हम देखते हैं कि कविता भग्न व्यक्तित्व को स्वर देती है। ऐसे कवि ही यह सोच सकते हैं कि उनसे बलिदान की माँग है, परिष्कार और व्यक्तित्व के उभार की माँग नहीं। माँग यह है कि सामाजिक दृष्टि को अपना कर कवि अपनी भावनाओं को उन्नत दिशा दे, उसके हृदय का घाव पुर जाए। ऐसा भी हुआ है कि कवि अपने जीवन-दर्शन को आत्मसात् नहीं कर पाया है, उसका जीवन-दर्शन, जीवन दृष्टि नहीं बन पाया है; वह केवल कोट रहा है, रक्त और प्राण-वायु नहीं बन सका है। ऐसा जीवन-दर्शन, जो वास्तव में अभी जीवन-दर्शन नहीं बना है, गहरी भावधारा और मार्मिक कविता की सृष्टि में सहायक नहीं हो सकता। ऐसे कवि की सच्ची वाणी उसके खंडित व्यक्तित्व की कथा कहेगी।

कविता में कवि का स्वर ताल-लय और संगीतयुक्त होता है। भावनाओं के अतिरेक में उस स्वर में आयास ही एक अपनी गति, लय और ताल प्रकट होती है। कविता गद्य नहीं हो सकती, यद्यपि यह भी आवश्यक नहीं है कि सदा ही कविता का संगीत कटा छटा और तराशा हुआ हो अथवा उसकी ताल-लय गीत के समान मधुर और मनोहारी हो। कविता का संगीत असम भी हो सकता है, उसका मार्ग टेढ़ा मेढ़ा, ऊँचा नीचा हो सकता है। किन्तु कविता सर्वथा संगीत-हीन नहीं हो सकती, यद्यपि अनेक कवि अपनी प्रेरणा के रथ को इस दिशा में ठेलने के प्रयास में लगे हैं।

नयी हिन्दी कविता में हम उपरोक्त बातें किसी न किसी मात्रा में बराबर पाते हैं। नयी हिन्दी कविता ने सामाजिक दृष्टि अपनी दीर्घ, उन्नत, प्राचीन परम्परा के उत्तराधिकार स्वरूप पायी है। यह परम्परा हिन्दी कविता का रक्त, मांस है। पाश्चात्य देशों से आयी हुई भग्न व्यक्तित्वों की कविता भी हमारे कवियों को प्रभावित कर रही है। इन दोनों धाराओं का संघर्ष और तादात्म्य भी हम नयी हिन्दी कविता में देखते हैं। इनके अतिरिक्त गीतों और लोक गीतों की परम्परा आज विशेष बलवती हो रही।

सामाजिक धारा हिन्दी कविता की प्रमुख धारा रही है। इसी धारा की उपधाराओं के रूप में, और कहीं-कहीं उसके विरोध में बहती हुई प्रयोगशील अथवा

गीतों की धाराएँ हैं। ऐसे कवि हैं कि जो इन तीनों ही धाराओं से सम्बद्ध हैं, क्योंकि अकसर दिशा एक है। अनेक प्रगतिशील कवि प्रयोगवादी भी रहे हैं। उनकी प्रेरणा परम्परागत रूप शिल्प को अपनाती हैं, कभी उसे तोड़ती है, कभी गीतों का स्वर लेती हैं। किन्तु ऐसे कवि भी हैं, जो अपने अहंकारी व्यक्तित्व की रक्षा के लिए सामाजिक धारा से अलग होकर विरोधी दिशाओं में जाना आवश्यक समझते हैं।

हिन्दी कविता की सबसे बलवती धारा आज भी सामाजिक धारा है। सामाजिक धारा व्यक्ति और समाज के विकास हेतु संतुलित कविता की धारा है। इस धारा के पीछे लोक कल्याण की चिरकाल से चली आयी भारतीय परम्परा का उत्तराधिकार है। संत कवियों, भारतेन्दु, द्विवेदी युग के कवियों और छायावादी काव्य में ही यह एक नयी कड़ी है। इसके पीछे 'ग्राम्या', 'नए पत्ते', 'हुँकार', 'बंग दर्शन', बंगाल का काल', 'प्रभातफेरी' और 'दीप जलेगा' की परम्परा है।

नयी कविता की शक्ति परखने के लिए 'सुमन' की 'दीपावली', 'नागार्जुन' की 'युगधारा', 'नरेश मेहता' की 'समय देवता' अथवा 'नीरज' की कविता 'अब युद्ध नहीं होगा' देखना चाहिए। इस शक्ति को समझने के लिए 'कोकिल' जी के गीत, जानकी वल्लभ शास्त्री, वीरेन्द्र मिश्र, मुकुल, शम्भूनाथ सिंह और केदारनाथ सिंह के गीत सुनना चाहिए। नयी कविता के प्रयोगों के पीछे भी हम निरन्तर सामाजिक परिवर्त्तन का आग्रह पाते हैं। ठाकुर प्रसाद सिंह के सन्थाली लोक गीतों के अनुवाद और वंशीधर पंडा के बुन्देली गीतों में हम लोक साहित्य की सशक्त परम्परा का परिचय पाते हैं।

सबल प्रगतिशील कविता का अनुपम उदाहरण हम श्री गिरजाकुमार की कविता 'तेंतीसवीं वर्षगांठ' में पाते हैं। मधुर गीत की लय में यह उत्कृष्ट कविता ढाली गयी है :

"उम्र की इस सौ स्वर्नी मीनार पर
मंज़िल मैंने तिहाई पार की
ज़िन्दगी को खींच कर लाते हुए
राह की सौग़ात सारी वार दी
और भी ऊँची चढ़ाई सामने
और भी भारी लड़ाई सामने

यह भयानक खोखली मीनार है
शक्ति देता सिर्फ़ तेरा प्यार है..."

कवि अपनी प्रेयसी से शक्ति की याचना करता है :

"शक्ति दो मुझको, सलोनी ! प्यार से
लड़ सकूँ मैं जुल्म के संसार से
बाँह गोरी मनुजता की ध्वज बने
छाप तेरे अधर की सूरज बने
फिर नयी इन्सानियत की ढाल दो
फिर नयन मेरे नयन में डाल दो..."

आगे कवि त्रस्त और असहाय मानवता की सहायता के लिए उठना चाहता है। आज की सम्पूर्ण बर्बरता और क्रूरता का वर्णन यहाँ कविता में मूर्त हुआ है :

"उम्र की सारी थकान उतार दो
देह पर हथियार नए सँवार दो
क्योंकि दुनिया पर खिंची तलवार है
दैन्य, दुःख, अन्याय, अत्याचार है

आदमी पर आदमी का वार है,
विश्व-नैतिकता पतन के द्वार है।
जन्म-दिन की क्या खुशी होगी उन्हें,
ज़िन्दगी है मृत्यु से भारी जिन्हें

भूख, बीमारी, ग़रीबी, गन्दगी,
कौड़ियों के मोल बिकती ज़िन्दगी,
आदमी का मिट गया सम्मान है,
मनुजता का अब न गरिमा-गान है,

वह नहीं इन्सान की है सभ्यता,
स्वार्थ, लालच, युद्ध जिसके देवता,
मूलधन हिंसा, गुलामी सूद है
आदमी बन्दूक की बारूद है..."

नयी हिन्दी कविता का यही प्रतिनिधि स्वर है। हिन्दी के अनेक प्रतिभावान कवि इसी स्वर को अपने गीतों में जगा रहे हैं। केदार, नागार्जुन, महेन्द्र भट-

नागर, शमशेर, त्रिलोचन आदि की कविता का यह स्वर है। 'शील' की रचना में भी यही स्वर गूँजता है :—

"जल रहा रक्त की ज्वाला में कंकाल विषमता का विषाद
संघर्ष क्रांति की धरती से कर चुका पलायन भाग्यवाद
रख चुकी अशोषित मानवता नूतन भविष्य की ओर चरण
जनरव के चित्र उतार रहा कवि कुल की वाणी का निनाद।"

इस कविता के प्रति कभी-कभी विचित्र आक्षेप सुनने में आते हैं। यह कि कवि के लिए आस्तिकता और आस्था आवश्यक है। जीवन में, मनुष्य में, सामाजिक प्रगति की शक्तियों में आस्था नहीं, वरन् आकाशवासी शक्तियों में आस्था! कविता भावनाओं के उद्रेक से फूटकर बहती है; विचार के आघात से भी अनुभूतियों का पारावार हिल उठाता है। ऐसे क्षणों में कविता का जन्म होता है। इसमें आस्तिक और नास्तिक का प्रश्न निरर्थक है। 'नीरज' की पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में याद आती हैं :—

"क्या करेगा प्यार वह भगवान को
क्या करेगा प्यार वह ईमान को,
जन्म लेकर गोद से इन्सान को
प्यार कर पाया न जो इन्सान को।"

सामाजिक दृष्टि, चित्रमय भाषा और गीत का निर्झर, नयी हिन्दी कविता की यह विशेषताएँ हैं। यह तीनों ही गुण हम नरेश मेहता के समान कवियों में एक साथ ही पाते हैं। गीत की तान उठती है :—

"नीलम वंशी में से कुंकुम के स्वर गूँज रहे!"

अथवा,

"अश्व की वल्गा लो अब थाम,
दिख रहा मानसरोवर कूल!!"

चित्रों की भाषा देखिये :—

"सोने का वह मेघ चील,
अपने चमकीले पंखों में ले अंधकार अब बैठ गयी दिन अंडे पर।
नदी वधू की नथ का मोती चील ले गयी।
गगन नीड़ से सूरज ग्वाला हाँक रहा है दिन की गायें।
नभ का नीलापन चुप है दिशि के कंधों पर सिर धर।"

जब इस गीत के निर्झर और चित्रमयी अभिव्यक्ति के साथ उत्ताल प्रेरणा की तरंगों पर कवि उतरता है, जब उसकी दृष्टि का विस्तार बढ़ जाता है, सम्पूर्ण मानवता के बढ़ते चरण जब उसकी कल्पना में समा जाते हैं, तब उसकी कला एक नये ऊँचे स्तर पर अनायास ही पहुँच जाती है।

चित्रों की भाषा अनेक प्रतिभावान् कवियों ने अपनायी है। 'सतपुड़ा के जंगल' की कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

"सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए से
ऊँघते अनमने जंगल।
झाड़ ऊँचे और नीचे,
चुप खड़े हैं आँख मींचे,
घास चुप है, कांस चुप है,
मूक शाल, पलाश चुप है।
बन सके तो धँसो इनमें,
धँस न पाती हवा जिनमें,
सतपुड़ा के घने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल।"

गजानन मुक्तिबोध लिखते हैं :—

"ज़िन्दगी में जो कुछ है, जो भी है
सहर्ष स्वीकारा है;
इसीलिए कि जो कुछ भी मेरा है
वह तुम्हें प्यारा है।

"गरबीली गरीबी यह, ये गंभीर अनुभव सब,
यह विचार वैभव सब;
दृढ़ता यह, भीतर की सरिता यह अभिनव सब,
मौलिक है, मौलिक है;
इसलिए कि पल पल में
जो कुछ भी जाग्रत है, अपलक है—
संवेदन तुम्हारा है!"

जब इस चित्रमय अभिव्यक्ति का प्रणय, गीत की ध्वनि से न होकर, गद्य

के संगीत से होता है, तभी प्रयोगवाद का जन्म होता है। प्रयोगवाद के पिता कवि हैं और उसकी माँ गद्य। कवि-रूप 'अज्ञेय' जी की रचनाओं में प्रगट होता है। गद्य का रूप देखिये :

"कमीज़ के बटन
बटन होल से बाहर जो
दाँत निकाले से पड़े हैं
उन्हें समेट लो
आस्तीन के कालर
कोट की सीमा से बाहर मत जाने दो"

अथवा,

खाली समय में
"बैठकर ब्लेड से नाखून काटें,
बढ़ी हुई दाढ़ी में बालों के बीच की
खाली जगह छाँटें,
सर खुजलाएँ, जम्हुआएँ,
कभी धूप में आयें,
कभी छाँह में जाएँ,
इधर-उधर लेटें,
हाथ पैर फैलाएँ,
करवटें बदलें,
दायें बायें,
ख़ाली काग़ज पर क़लम से
भोंड़ी नाक, गोल आँख, टेढ़े मुँह
की तस्वीर खींचें,

यह आवश्यक नहीं है कि प्रयोगों की कविता के पंख सदा ही इस प्रकार मिट्टी में घिसटते चलें। जब इन पंखों में गीत की लय भरती है तो यह कविता ऊँची उठ जाती है। इसके उदाहरण गिरजा कुमार माथुर, भवानी मिश्र, हरिव्यास नरेश मेहता आदि के काव्य में निरन्तर मिलते हैं अनेक नये कवियों की वाणी में ओज प्रेरणा और गहरी भावना की ज्वाला हम पाते हैं।

जनार्दन मुक्तिदूत की कविता 'मणि रथ' देखिये :

"उठ मार कुदाली धरतीमें ।
उठ मार कुदाली परतीमें ।

इस धरती के अंदर जाने, कितने मणियों के रथ खोये ?
हो चुके अचल अश्वों के पग, जाने कब से सोये सोये ।

वे दिशाहीन सारथि विहीन, नतमस्तक अब तक खड़े हुए ।
पहिये जिनके ले भार अतुल, धरती के अन्दर गड़े हुए ।

चाँदी के वे पहिये सारे, अश्वों की सोने की काया ।
रथ का ढाँचा मुक्ता–माणिक, धरती में पड़ी विपुल माया ।

है माया विपुला धरती में ।
उठ मार कुदाली परती में ।

भू-सुत ! इनका संचलन करो,
रथ को कारा से मुक्त करो ।
इनको वल्गा खींचो ऐसे—
मुड़ जायँ स्वयं ही यह जैसे—

उस लम्बे पथ की ओर निडर जिसपर नंगी आधी दुनिया—
उस लंबे पथ की ओर सहज जिसपर भूखी आधी दुनिया—

है माया विपुला धरती में—
उठ मार कुदाली परती में ।"

गीत की परम्परा आज हिन्दी काव्य की सजग परम्परा है और अक्सर पाठकों और आलोचकों द्वारा इस धारा की उपेक्षा हुई है । 'कोकिल' जी के नये गीतों ने अपनी गहरी संवेदना और मर्मस्पर्शी गुण से हिन्दी संसार का ध्यान इधर बरबस खींचा है । व्यथित मन के उद्गार और अश्रु इन गीतों में हम पाते हैं । शमा जल रही है, 'मोम सा मन' गल रहा है, मोती बनकर अश्रु गिरते हैं । मीरा की परम्परा इन गीतों में फिर से एक बार साकार हो उठी है ।

गीतों की परम्परा का एक अन्य श्रेष्ठ रूप हम 'बच्चन' जी के नये काव्य में भी देखते हैं :

आयरी अंगना के प्रति
"तुम्हारे नील झील से नयन
नीर निर्झर से लहरे केश"

गीतों की परम्परा के समर्थ पोषक शम्भूनाथ सिंह, केदार नाथ सिंह, वीरेन्द्र

मिश्र, रमानाथ अवस्थी, नर्मदेश्वर उपाध्याय, रामदरस मिश्र आदि अनेक कवि हैं। इन गीतों के स्वर इस प्रकार उठते हैं :—

"टेर रही प्रिया तुम कहाँ ?
किसकी यह छाँह और किसके यह गीत रे ?
बरगद की छाँह और चैता के गीत रे।
सिहर रहा जिया, तुम कहाँ ?"

नर्मदेश्वर उर्दू गज़ल के साँचे में अपने गीतों को ढाल रहे हैं। नये वर्ष पर उनकी कविता विशेष मार्मिक बन पड़ी है :

"ये मीनारे-मेहनत से उठती अज़ाने,
मशीनों में ढलते ये ग़म के तराने,
नये साल की खैरियत चाहते हैं,
इबादत में डूबे ये कल कारख़ाने।
"ये माटी की महिमा है : माथे लगा लो,
ये पत्थर की मूरत है, सर को झुका लो,
ये लाशें तरसती रही हैं क़फ़न को,
नए साल पर पहले इनको सँभालो।"

रामदरस मिश्र लिखते हैं :

"आँधियों मे भी दिवा का दीप जलना ज़िन्दगी है,
पत्थरों को तोड़ निर्झर का निकलना ज़िन्दगी है,
चाहता हूँ मैं किसी छाया तले निश्वास ले लूँ,
किन्तु कोई कह रहा दिन-रात चलना जिन्दगी है।"

आज के अनेक कवि लोक-गीतों की परम्परा अपने काव्य में अपना रहे हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ रचना आजकल वंशीधर कर रहे हैं। बुन्देली का पुट लिए इन गीतों में गहरी संवेदना हम पाते हैं, पण्डा जी के गीतों का मधुर शब्द-विन्यास और संगीत देखिए :

"ओ गाँवन के भइया,
ओ सहरन के भइया,
देसन के भइया,
बिदेसन के भइया,

तुम सबरे भइया
जा धरती मैया के...

जा सूरज देवा के,
जा चन्दा मामा के,......

तालन में खेले,
तलइया में खेले,

समुन्दर पै खेले,
पहारन में खेले,

इतै नेक अइयो,
सुनै नैक जइयो,
ओ गाँवन के भइया......"

हिन्दी काव्य में आज अनेक नयी प्रतिभाएँ जाग्रत हैं और अनेक प्रकार से उसे समृद्ध कर रही हैं। गीतों की शैली, लोक-काव्य की शैली, चित्रात्मक अभिव्यक्ति की शैली, सभी गहरी सामाजिक प्रेरणा पाकर उभर रही हैं। नया कवि अपने को 'गोताखोर' के रूप में देखता है। वह जीवन-सागर में गहरी डुबकी लगाकर सत्य का मोती लाना चाहता है। वह अपने साथियों से और भी मज़बूती से रस्सियाँ कसने और खींचने को कहता है।

"कोलाहल, तरंगाकुल शब्द व्यूह !
ढीली करो डोरियों को
और ज़रा ढीली करो
जल में उतरने दो।

"शान्ति मिले तह की
नहीं बातें हों लहरों की बहकी बहकी
और पड़ती सुनाई न हों बातें बढ़-बढ़के
चाँद चूमने की कहतीं जो
ज्वारों के विमानों पर चढ़-चढ़ के;
और नीचे जाने दो
शान्ति को हृदय में समाने दो
स्तर भेद करने दो
गहरे उतरने दो।

अन्त में कवि कहता है :—

"आह ! जी लिया पल भर
कस लो डोरियाँ अब
देर न लगाओ
अब ऊपर उठाओ
बहुत आकुल हूं
दर्शन को।"

'बच्चन' के समान पिछली पीढ़ी के कवियों में भी यही सामाजिक जीवन का आतुर अधीर स्वर बल पकड़ रहा है। उनकी कविता 'चोटी की बरफ़' देखिए :

"स्फटिक निर्मल
और दर्पण-स्वच्छ
हे हिम-खण्ड शीतल और समुज्ज्वल
जब तलक गल पिघल
नीचे को ढलक कर
तुम न मिट्टी में मिलोगे
तब तलक तुम
तृणहरित बन
व्यक्त धरती का नहीं रोमांच
हरगिज़ कर सकोगे,
और न उसके हास बन
रंगीन कलियों और फूलों में खिलोगे
और न उसकी वेदना के
अश्रु बन कर
प्रात पलकों में
पखुरियों के पलोगे।"

यह स्वर इधर की लिखी श्री बाल कृष्ण राव की नयी कविताओं में भी हम पाते हैं।

हिन्दी कवियों की सामाजिक चेतना आज के विध्वंसकारी युद्ध, अणुबम और उद्जन-बम के विरोध में व्यक्त हुई है। यह स्वाभाविक ही है। 'नीरज' की कविता 'अब युद्ध नहीं होगा' का ज़िक्र ऊपर हम कर चुके हैं। उनके स्वर में एक ललकार, चुनौती और शक्ति है, जो आज के हिन्दी काव्य में अनोखी ही है :—

"अब हो जाओ तैयार साथियो ! देर न हो
दुश्मन ने फिर बारूदी बिगुल बजाया है
बेमौसम फिर इस नये चमन के फूलों पर
सर कफ़न बाँधने वाला मौसम आया है।
फिर बनने वाला है जग मुर्दों का पड़ाव
फिर बिकने वाला है लोहू बाजारों में,
करने वाली है मौत मरघटों का सिंगार,
सोने वाली है फिर बहार पतझारों में।"

इन्हीं भावनाओं को मनोहर श्याम जोशी की कविता में चित्रात्मक अभिव्यक्ति मिलती है :—

"छप छप गाती है यह फ्लैश खबर
कि सावधान
लो ! अब विराट घृणा के कुंचित ललाट का धीरज
छूटता है !
लो ! अब उद्‌जन के परम कण का सूर्य-सा शक्ति-
स्रोत फूटता है !
हो सावधान !
ओ आधे-भगवान : इन्सान !
अब दूर कहीं बहुत-बहुत-बहुत दूर
शुरू होती है वह अनन्त विध्वंस-प्रक्रिया लड़ी
जिसमें न रह पायेगी यह अर्ध-चेतना की मीनार खड़ी,
जिसमें हो जायेंगे ये सबके सब काँच के सपने चकनाचूर !

खबरदार !
आ रहा ज्वार !
ये आधे-आधे वादे सब बह जायँगे।
ये पुंसत्वहीन इरादे सब धरे रह जायेंगे।
ये ताश पत्तों के महल सबके सब ढह जायेंगे !
ये दुर्बल बाहों के अनिश्चित आलिंगन सब मर जायेंगे।

कविता का अन्त इन आस्था और निष्ठा भरे शब्दों में होता है :—

"पढ़ता है मन जब यह खबर
प्रिय सहसा कुम्हला जाती है

अधखिली कली पंख-हल्की कविता की,
जाती है मर ताज़ी तितली तरल प्रेरणा की,
आती है यह समझ
कि अब बस कविता वही होगी
जो इस विराट घृणा के समक्ष
किसी इतनी ही विराट प्रीत का सत्य रक्खेगी,
कवि बस वही होगा जो उस सत्य को खोजेगा.
कवि प्रिया बस वही होगी जो उसकी खोज के पथ
को प्रकाशवान करेगी।
अब कविता को हस्तबरद बनाना होगा।
अब सातों समुद्रों पर, माँ धरा पर, मोटा चद्दरा
फैलाना होगा।
नीले निर्मल जल को, हरी भरी धरती को,
रेडियम धर्मी कुकर्मी कृत्रिम बादल को
बेशर्मी से बचाना होगा!
अन्यथा ये कल्लोल-विभोर मछलियाँ,
ये मैथुन मग्न कबूतरियाँ,
सब मर जायेंगी, मर जायेंगी!
न कवि रह सकेंगे
न कविताएँ ही रह पायेंगी!

यही आज की हिन्दी कविता का प्रतिनिधि स्वर है। यही स्वर विश्व के सर्वश्रेष्ठ साहित्य में आज गूँज रहा है। यह मानवता और सत्साहित्य का स्वर है। यही हमारी पुरानी गौरवमयी काव्य-परम्परा से विकास की नयी कड़ियाँ जोड़ता है।

नयी कविता में हम चिन्तनीय प्रवृत्तियाँ भी पाते हैं। यह हैं तीखी वासना और पिपासा, असंयम, गद्यात्मकता का प्रसार, मद, अहंकार और भारी अहं-मन्यता। इन प्रवृत्तियों का बढ़ना हमारे साहित्य के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

हर्ष की बात यह है कि हिन्दी काव्य की सृजन-शक्तियाँ इन प्रवृत्तियों की अवहेलना करके अपने भविष्य को आश्वस्त हाथों से सम्हाल रही हैं।

१५

हिन्दी कहानी की गति-विधि

कहानी आज के युग का अतिप्रिय कला-रूप है। सिनेमा से ही कम इसका व्यापक प्रसार है। अनेक कहानियाँ जो हिन्दी का पाठक, अथवा विश्व की किसी भी भाषा का पाठक, पढ़ता है, साहित्यिक कहानी की श्रेणी में नहीं आती। फिर भी आधुनिक कहानी की बात सोचते समय एक अद्भुत रत्न-कोष पाठक के सामने आता है।

कहानी का सबसे बड़ा गुण यह है कि पाठक एक साँस में ही उसे पढ़ लेता है। कहानी एक स्थिर चित्र के समान है जिसे हम उसकी समग्रता में देख सकते हैं। उपन्यास एक चल-चित्र के समान है, जिसका एक ही अंश हम एक दृष्टि में देख पाते हैं। फिर आज के गति-शील युग में सामान्य पाठक के पास केवल मासिक-पत्रों और विशेष रूप से कहानियों के पढ़ने का ही समय होता है। इससे भी अधिक उसे यह पसंद है कि किसी सिनेमा-घर में बैठ कर सजीव चित्र वह देखे। भाग्यशाली देशों में नागरिक नाटक, ऑपरा, और बैले भी देख सकता है।

कहानी में हमें जीवन की, सामाजिक परिस्थिति की, चरित्र की, कोई एक झलक भर मिलती है। यह झलक अंधकार-भरे कमरे में बिजली कौंधने के समान हो सकती है। स्मृति-पट पर इसकी अमिट रेखा खिंच जाती है। कलाकार और जीवन के संबंध में हमें यह झलक अनुपम सूझ देती है।

इसीलिए कहानी की लोकप्रियता निरन्तर बढ़ती रही है। आज का पाठक पुरानी कहानियों को चाव से पढ़ता अवश्य है, किन्तु उसे अपनी समकालीन कहानियों में विशेष रस मिलता है। पुरानी कहानियों को वह उनके ऐतिहासिक मूल्य के लिए पढ़ता है। ऐसी भी कहानियाँ हैं जिन में वह पूर्णतया अब भी डूब जाता है, किन्तु वह अपने समकालीन जीवन के चित्र को विशेष अच्छी तरह ग्रहण कर सकता है। अपनी समस्याओं का प्रतिबिम्ब वह आधुनिक कला में पाता है; अपने ही जीवन की प्रतिध्वनियाँ वह आज के साहित्य में सुनता

है। इस प्रकार अधिक गहरा रागात्मक संबंध वह समकालीन साहित्य से स्थापित कर पाता है।

रामायण अथवा बाइबिल का पाठ अधिकतर धर्म-ग्रन्थों के रूप में होता है। डिकिन्स, बालज़ाक और पो भी कुछ-कुछ मलिन और सीलन-भरे मालूम होते हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि टैगोर और प्रेमचन्द पुराने पड़ गए हैं। इन सीधी रेखाओं को और गहरे रंगों को आज का मनचला पाठक पसंद नहीं करता। वह रंगीन, भावपूर्ण भाषा पसंद करता है; कहानी में कथानक का उतार-चढ़ाव वह पसंद नहीं करता; आज की कहानी के पात्र भी साधारण व्यक्ति होते हैं, जिनके चरित्र में कोई विशेषता नहीं होती।

शायद यह कहा जा सके कि कहानी की लोकप्रियता बढ़ रही है, किन्तु आज की कहानी अपना कहानीपन छोड़ रही है। लेकिन, आधुनिक कहानी में भावात्मकता और पाठक के मन पर आघात करने की क्षमता अवश्य है। अकसर आज की कहानी कुछेक रेखाओं के माध्यम से जीवन की व्यथा, करुणा अथवा उसके किसी और पक्ष को प्रकट करती है। 'अज्ञेय' की कहानी "रोज़" लीजिए। यह कहानी थोड़े से शब्दों में मध्यम वर्ग की हिन्दू नारी के मन का सूनापन, उसके मन पर सिल-सा जमा दुःख व्यक्त करती है। एक सीधी सी रेखा के समान यह कहानी पाठक के मन पर खिंचती है। क्षण भर के लिए इस कहानी की तुलना प्रेमचन्द की किसी कहानी से "बड़े घर की बेटी", "पंच परमेश्वर", अथवा "ईदगाह" से कीजिए। प्रेमचन्द की कहानियों में उतार-चढ़ाव है, चरित्र के अगम व्यापारों की सूझ है, व्यथा है, और एक उन्नत, उदार हृदय की उन-पर छाप है।

आज का लेखक पुराने साहित्य की पुनरावृत्ति करना नहीं चाहता। यह प्रवृत्ति श्लाघनीय है। उसका आग्रह नयेपन और प्रयोग के प्रति है। किन्तु बहुधा उसकी कला में वह प्रसार, गहराई, जीवन की संपूर्ण आकुलता भी नहीं है, जो हमें प्रेमचन्द में मिलती है। वह हमें आर्द्रता, टीस, कसक देता है। इसे भी पाठक स्नेह से ग्रहण करता है।

भारतीय कहानी अब तक काफ़ी विकसित और प्रौढ़ हो चुकी है। संसार के किसी भी कहानी-साहित्य की समानता वह कर सकती है। टैगोर की कला में उसे सूक्ष्म, कोमल अनुभूति मिली, शरत् की कृति में हिन्दू-नारी के मन की गहरी वेदना और सामाजिक परिस्थितियों की क्रूरता मिली और प्रेमचन्द के साहित्य में ग्राम-जीवन का विशिष्ट चित्रण और भारतीय समाज का व्यापक दिग्दर्शन मिला।

प्रेमचन्द, 'प्रसाद', विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक और सुदर्शन ने हिन्दी कहानी को प्रौढ़ दृष्टि दी, उसे सामाजिक आदर्शवादिता और कलात्मकता प्रदान की, उसे उन्नत और समृद्ध परम्परा दी। प्रेमचन्द के परवर्त्ती कलाकारों ने इस परम्परा का समुचित विकास किया। जैनेन्द्र ने मध्यवर्ग के जीवन का चित्रण किया, वैयक्तिक कुण्ठाओं का उद्‌घाटन किया और एक सहज, सरल अभिव्यक्ति उसे दी। प्रेमचन्द के अधिकतर परवर्त्ती कलाकारों ने इसी क्षेत्र में विशेष सफलता पाई। वे मध्यम वर्ग के नागरिक जीवन का वर्णन करते हैं, और व्यक्ति-मन की ग्रन्थियों को सुलझाते और उलझाते हैं। उन्होंने अनुपम कला-शिल्प भी कहानी को दिया। श्रीभगवती चरण वर्मा, श्री इलाचन्द्र जोशी और 'श्री अज्ञेय' की कृतियाँ इस कथन का समर्थन करती हैं। कहानीकारों का एक दल प्रेमचन्द की परम्परा को भी विकसित कर रहा था। यशपाल, 'अश्क', 'रांगेय राघव', 'निर्गुण', चन्द्-किरण सौनरेक्सा, 'पहाड़ी', राधाकृष्ण, विष्णु प्रभाकर, अमृतराय आदि सामाजिक जीवन को अपनी कला में व्यक्त कर रहे थे, उनकी दृष्टि स्वस्थ और उदार थी और मन की विकृतियों को वे जीवन का चरम सत्य न मान रहे थे। राहुल सांकृत्यायन और भगवतशरण उपाध्याय ने ऐतिहासिक कहानी का विकास किया। इनकी दृष्टि भी मूलतः सामाजिक थी और सामाजिक संघर्षों और प्रगति को वे अपनी कला में अंकित कर रहे थे।

आज के युग तक आते-आते हिन्दी कहानी की धारा विराट और विशाल हो चुकी है। उसके पाट में प्रसार और विस्तार है, यद्यपि प्रेमचन्द और उनके समकालीन लेखकों की गहराइयों तक आज वह नहीं पहुँच रही है। इसका एक कारण यह है कि आज का लेखक अपने में अधिक सीमित रहता है और जन-मन से उसका वह सहज, स्वाभाविक लगाव नहीं है, जो उसके पूर्ववर्त्तियों में था।

आज के कहानी लेखकों में हम बड़ी प्रतिभा और कला-शिल्प के प्रति आग्रह पाते हैं। "कहानी" मासिक के विशेषांक यह स्पष्ट करते हैं। यह प्रतिभा अगले वर्षों में और भी प्रस्फुटित और विकसित होगी। बीच की पीढ़ी के अनेक लेखक आज सबल प्रेरणा से लिख रहे हैं। इसके उदाहरण स्वरूप हम रांगेय-राघव की ओजस्विनी, बरसाती नदसी मदमाती "गदल" अथवा 'अश्क' की शिल्प से सुसज्जित और अलंकृत "झेलम के सात पुल" ले सकते हैं। श्रीविष्णु प्रभाकर, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय की इधर की कहानियाँ भी यही प्रमाणित करती हैं। 'अज्ञेय' की "जयदोल" की कुछ कहानियाँ करुणा और मार्मिकता से ओत-प्रोत हैं यद्यपि उनकी अनेक कहानियों में अहम् का दर्प भी है। यश-

पाल के अनेक संग्रह निकले हैं, जिनमें उत्कृष्ट कहानियाँ हैं। 'निर्गुण' के भी नए संग्रह इधर निकले हैं। श्रीराम शर्मा की कहानियाँ भारतीय जीवन का विषाद बड़ी सहज, स्वाभाविक और सरल शैली में व्यक्त करती हैं।

किन्तु हम एकदम नई पीढ़ी की ओर देखना चाहते हैं, जिसके हाथों में हिन्दी कहानी का भविष्य है। आज के प्रतिष्ठित मासिक-पत्रों में नित्य-प्रति उत्कृष्ट कहानियाँ निकला करती हैं। नए कहानी-लेखकों के अनेक संग्रह भी सामने आ रहे हैं। सबसे अधिक गति और स्फूर्ति से श्रीकमल जोशी लिख रहे हैं। इनकी कहानियों में कहानीपन रहता है, सुगढ़ चरित्र-चित्रण रहता है और सामाजिक परिस्थितियों के प्रति करुणा-विगलित दृष्टि रहती है। परम्परागत साँचों को कमलजोशी ने तोड़ा नहीं है, वरन् उन्हीं के आधार पर अपने नए साँचे उन्होंने गढ़े हैं। प्रेम की समस्याओं को कमलजोशी अपनी कला में उठाते हैं, किन्तु सामाजिक भूमि से उनका सर्वथा अलगाव नहीं रहता। 'चार के चार', 'बहता तिनका' और 'पत्थर की आँख' में हम कमलजोशी की उत्कृष्ट कला का परिचय पा सकते हैं। बिहार के श्री ज्योतीन्द्रनाथ भी बड़ी मार्मिकता और सहज स्वाभाविकता से लिख रहे हैं। मार्कण्डेय के 'पान-फूल' में अनेक श्रेष्ठ कहानियाँ संगृहीत हैं। इनमें 'गुलरा के बाबा', 'सरबइया', 'सात बच्चों की माँ' आदि काफी ख्याति पा चुकी हैं। गाँव की मिट्टी की सोंधी महक इन कहानियों में है और इंगित करती है कि नए कहानीकार प्रेमचन्द के पदचिह्नों पर चलने और गाँव की ओर लौटने को उत्सुक हैं।

आज के अनन्य प्रतिभा-सम्पन्न कहानीकारों में शिवप्रसाद सिंह प्रमुख हैं। उनके नवीन कहानी-संग्रह 'आरपार की माला' में गाँव का विशद और सजीव चित्रण हमें मिलता है। गाँव की मुहाविरेदार भाषा का पुट निरन्तर इनकी शैली में हम पाते हैं। इसके कारण इनकी भाषा मधुर और अभिव्यञ्जना गहरी हो गई है। गाँव का प्राकृतिक और पारिवारिक वातावरण इन कहानियों में मूर्त्त हो उठा है। श्रीशिवप्रसाद सिंह पुराने टूटते हुए सामन्ती संबंधों को अपनी कला में अंकित करते हैं, साथ ही ग्रामीण स्वभाव की उदार, उदात्त भावनाओं को भी वे प्रेमचन्द के समान महत्व देते हैं। उनके प्राकृतिक वर्णन काव्यमय हैं और उनके अनेक पात्रों को भूलना सर्वथा असम्भव है।

इसी प्रकार श्री केशवमिश्र की अनेक कहानियों में ग्राम-जीवन का सजीव अंकन हम पाते हैं। यह रचनाएँ 'कल्पना' मासिक में निकलती रही हैं।

राजनीतिक दृष्टि से सजग और मार्मिक कहानियाँ भी नए लेखकों ने लिखी

हैं। इनका एक अच्छा उदाहरण श्री मुजीब रिज़वी के कहानी-संग्रह, 'गंगा से गोमती तक' में हमें मिलता है। अलाहाबाद से लखनऊ की रेल-यात्रा में जो विचार यात्री के मन में आते हैं और जो दृश्य वह देखता है, उनका वर्णन सहज, स्वाभाविक भाषा में इस कहानी में मुजीब रिज़वी ने किया है। अन्य कहानियों में उन्होंने आज की सामाजिक वास्तविकता के करुण और मर्मस्पर्शी चित्र खींचे हैं और कहीं-कहीं शासक वर्ग के प्रति मधुर, कोमल व्यंग किया है।

मनोहरश्याम जोशी, कमलेश्वर अथवा जितेन्द्र की कहानियों में हम ऊब, घुटन, थकान की भावना पाते हैं। मनोहरश्याम जोशी की कहानियों में कथानक का विघटन हुआ है। एक क्लर्क है, गंदे होटल में खाना खाता है, लड़कियों को घूरता है, अपने दूरस्थ घर की बात सोचता है। असफलता और हार की भावना कूट-कूटकर उसके जीवन में भर गई हैं। इन कहानियों में प्रवाह है, शक्ति है और प्रतिभा है, किन्तु यहाँ हमें खुला, मुक्त आकाश नहीं दिखाई पड़ता। जीवन की सड़न और सीलन इन कहानियों में अंकित हुई है। किन्तु आज असंख्य भारतवासियों का यही जीवन भी तो है।

इसी प्रकार अपने लम्बे स्केच, 'ये घर, ये लोग' में जितेन्द्र एक शिक्षित नवयुवक के जीवन की विफलता का वर्णन करते हैं। वह ए. जी. के दफ्तर में काम करता है। यहाँ का जीवन उसके सुपरिचित यूनीवर्सिटी के जीवन से बिल्कुल मेल नहीं खाता। उसका मन वितृष्णा और खीज से भर जाता है। वह समाज के प्रति विद्रोही बन जाता है। किन्तु ओज और शक्ति से संपन्न इस कला में हमें कोई दिशा नहीं मिलती, मात्र नाशवादिता यहाँ मिलती है।

इन कहानी-लेखकों में कमलेश्वर की कला में बड़े वेग से प्रौढ़ता आई है। इसका उदाहरण उनकी कहानी 'राजानिबँसिया' है। कमलेश्वर हिन्दू निम्न-मध्य घर के वातावरण को अंकित करने में विशेष कुशल हैं। पत्नी रोटी बनाती है, सिर नीचा किए रहती है; पति उसके मुँह पर चाँटा मारता है; अतिथि का मन भारी अवसाद और व्यथा से द्रवित होता है। पाठक का मन भी मानो रोकर कहता है, 'हाय रे हिन्दू परिवार! हाय रे इसकी भीषण क्रूरता और विडम्बना!'

और भी अनेक हिन्दी कहानी लेखक निरन्तर प्रकाश में आ रहे हैं, घनश्याम सेठी, राजेन्द्र यादव, रामकुमार, मोहन राकेश, ओमप्रकाश, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, रामदरश मिश्र, विद्यासागर नौटियाल। इनके अतिरिक्त श्रीमती शशि तिवारी और कृष्णा सोबती के समान महिला-लेखकों की आर्द्र, करुण प्रेरणा भी कहानी को विकसित कर रही है और उसे संपन्न बना रही है।

हिन्दी के लगभग सभी नए कहानी-लेखक सामाजिक भूमि में व्यक्ति की समस्याओं को देखते हैं। उनके पात्रों की विफलताओं और कुण्ठाओं के पीछे समाज की विषम परिस्थितियाँ हैं, जो व्यक्ति मन को फूल की भाँति खिलने नहीं देतीं। इधर बंजर धरती में पड़ा बीज पनप ही नहीं सकता। उनके अवसाद और घने विषाद के पीछे यह अव्यक्त स्वर संवेदनाशील पाठक सुन सकता है। अनेक नए कथाकार प्रेमचन्द की स्वस्थ, सबल परम्परा को अपना कर गाँव की ओर मुड़े हैं, यह आज के कथा-साहित्य का सबसे आशाप्रद गुण है। प्रेमचन्द से अगली पीढ़ी के कलाकारों ने नागरिक जीवन की समस्याओं का अङ्कन अपने साहित्य में किया था। भारत के बुद्धिजीवी वर्ग का निवास नगर में है, इसलिए यह स्वाभाविक और अनिवार्य था। किन्तु भारत की बहुसंख्यी जनता गाँवों में रहती है और वह भारतीय साहित्य की प्रमुख पात्र होने की अधिकारी है। इस दृष्टि से यह एक शुभ लक्षण है कि नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, लक्ष्मीनारायण लाल, मार्कण्डेय, रामदरश मिश्र, केशव मिश्र आदि ग्राम-जीवन की छायाएँ अपने कथा-साहित्य में उतार रहे हैं।

नए कथाकार कला-शिल्प और भाषा के सौन्दर्य को भी बहुत महत्व दे रहे हैं। वे अपनी रचनाओं को निर्दोष, अलंकृत और सुगढ़ बनाना चाहते हैं। वास्तव में इसी दृष्टि से उन्हें लगता है कि वे प्रेमचन्द की कला से आगे बढ़े हैं। तुलसी, सूर, कबीर, मीरा अथवा प्रेमचन्द की कला में सहज, स्वाभाविक गरिमा है जो शिल्प अथवा अलंकार की अपेक्षा नहीं रखती। आधुनिक कहानी का कला-सौष्ठव स्वयं एक आकर्षक गुण है, किन्तु उसे प्रेरणा अथवा कला का प्राण समझना भूल होगी। आज के अनेक कहानीकार बहुत गठी, चुस्त, आकर्षक शब्दावली का प्रयोग करते हैं। उनमें से कुछ गाँव की भाषा और उसके मुहावरों का भी पुट अपनी शैली में देते हैं। उनकी भाषा में मिट्टी की गमक और महुए की-सी गंध इसी कारण आ जाती है। नागार्जुन अथवा मार्कण्डेय की कला में इस गुण की स्पष्ट झलक हम देख सकते हैं।

कभी-कभी नए प्रयोगों को ही सफलता का चिह्न समझा जाता है। प्रयोग कला-रूपों में होते हैं और महत्व रखते हैं। विषय के विस्तार अथवा गहराई को प्रयोग की संज्ञा अक्सर नहीं दी जाती। नए कथाकार सफल और आकर्षक कहानियाँ लिख रहे हैं। सफल कहानी पाठक के मन को व्यथित अथवा विचलित करती है, उसके मानस पर गहरा प्रभाव छोड़ जाती है, बरबस उसे मोहिनी शक्ति से खींचती है। उसमें सामाजिक संबंधों की मर्मवेधी व्याख्या रहती है,

सामाजिक परिवेश को वह पाठक के मन पर गहरा अंकित करती है; उच्च, मर्म-स्पर्शी अथवा स्मरणीय चरित्रों का सृजन करके वह पाठक को विभोर करती है; मोपासाँ की 'हार' अथवा ओ·हैनरी के 'प्रबुद्धों का उपहार' के समान वह कोई चिरजीवी कथा कहती है, ऐसे ही गुणों के कारण कोई कहानी अमर हो सकती है।

'गुलरा के बाबा' और 'राजानिरबंसिया' में हमें अमर, चिर-स्मरणीय पात्र मिलते हैं। मेंहदीरत्ता अथवा कमलजोशी की रचनाओं में समाज अथवा प्रकृति की पृष्ठभूमि मिलती है। अनेक नई कहानियाँ पाठक के मन को विगलित करती हैं। श्रीमती शशि तिवारी अथवा कृष्णा सोवती की कहानियों के संबंध में यह कहा जा सकता है। इसके विपरीत एक भीनी महक मात्र बहुत सी आधुनिक कहानियों में हमें मिलती है। वह पाठक के मन को बेसुध करती है, लेकिन वह उस गंध का स्पर्श नहीं कर पाता। ऐसी कहानियों में सामाजिक भूमि पृष्ठ में अव्यक्त सी रहती है। उसे खोजकर ही पाठक पा सकता है। पात्र भी अधिकतर सामान्य रहते हैं, वे मैं, आप, कोई भी हो सकते हैं। कथानक की रेखाएँ कुछेक ही टेढ़ी-मेढ़ी-सी होती हैं। उदाहरण के लिए मार्कण्डेय की कहानी 'अगली कहानी का प्लाट' लीजिए। इस कहानी में कोई केन्द्रीय सूत्र नहीं है। कहानी के रूप में यह एक निबन्ध है। अनेक नई कहानियों में हम यौन-संबंधों की अत्यधिक मांसल अभिव्यक्ति पाते हैं। जीवन की संयत, संतुलित परिभाषा ऐसी कहानियों में हमें नहीं मिलती। जिस भारतीय समाज को हम अपने चतुर्दिक देखते हैं, उसकी अभिव्यक्ति न होकर यह आधुनिक चित्रपट अथवा पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित कल्पनाएँ हैं। आज की हिन्दी कहानी में हम इन सीमाओं और दुर्बलताओं को भी देख सकते हैं।

सफल कहानी पाठक के मन को केवल गुदगुदाती ही नहीं, उस पर एक आघात करती है जिसे वह कभी भूल नहीं सकता। हिन्दी के पुराने कथाकार पाठक के मन पर आघात करते थे, उसे द्रवित और विचलित करते थे। उनकी कहानियों में कथानक, चरित्र, सामाजिक परिवेश सभी कुछ रहता था। आज के कुछ कथाकार किसी सूक्ष्म अनुभूति अथवा कोमल भावना को अङ्कित करना चाहते हैं। नई बात को वह नई तरह से कहने की आकांक्षा रखते हैं। किन्तु नई बात सदैव पुरानी से जुड़ी रहती है, यह भी उन्हें नहीं भूलना है। आज की प्रतिभाएँ अनन्य संभावनाएँ रखती हैं। उनकी सफलताएँ आशातीत हैं, किन्तु उनके भावी विकास पर ही हिन्दी कहानी का भविष्य निर्भर है।

१६

हिन्दी कविता और प्रयोगवाद

'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन ने हिन्दी-संसार को एक नई बहस के तूफान में डाल दिया है। इस तूफान को हम चाय की प्याली का तूफान भी कह सकते हैं। पहले और दूसरे सप्तक के सम्पादक श्री 'अज्ञेय' इन पुस्तकों में एक नवीन काव्य-धारा का आविर्भाव देखते हैं, जिसका नामकरण किसी भी वजह से 'प्रयोग-वाद' हो गया है। प्रश्न उठते हैं प्रयोगवाद क्या है? किस हद तक दूसरे 'सप्तक' के कवि प्रयोगवादी हैं? वे क्या कहना चाहते हैं?

सप्तक-माला का महत्व है कि उसने नये कवियों को प्रकाशन की सुविधा दी है, ऐसे कवियों को 'जिनमें इतनी प्रतिभा तो है कि उनकी संगृहीत रचनायें प्रकाशित हों, लेकिन जो इतने प्रतिष्ठापित नहीं हुए हैं कि कोई प्रकाशक सहसा उनके अलग-अलग संग्रह निकाल दे।' ऐसे कवियों में एक ओर यदि 'अज्ञेय', रामविलास शर्मा और प्रभाकर माचवे हैं, तो दूसरी ओर शकुन्तला माथुर, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती के समान हिन्दी काव्य की नवीन प्रतिभायें हैं।

सम्पादक के कथनानुसार 'सप्तक' के कवि 'राहों के अन्वेषी' हैं, प्रयोग उनके लिये एक साधन है। प्रयोग तो जीवन के लिये इष्ट और शुभ है। प्रश्न यह है, आप किस प्रकार का प्रयोग चाहते हैं? क्या प्रयोग मात्र ही आपके लिये काफी है? यदि वह नवीन है, तो क्या इतने से ही हमारी आत्म-तुष्टि हो सकती है? क्या सफल प्रयोग वह है जो अभिव्यक्ति के अस्त्र पर शान रखता है, या वह जो उसे कुंठित करता है? या हम इस प्रश्न के प्रति तटस्थ और उदासीन हैं?

हम समझते हैं कि इन प्रश्नों के पीछे जीवन और साहित्य के आधारभूत सिद्धान्त हैं। कवि क्यों लिखता है? आत्म-तुष्टि के लिये तो वह लिखता ही है। लिखकर वह नई सृष्टि करता है और अपने प्रसव-भार से मुक्ति पाता है। किन्तु वह यह भी चाहेगा कि उसकी सन्तान श्रेष्ठ हो, मानव और समाज की प्रगति में सहायक हो। अन्यथा, सन्तान मात्र से उसे संतोष नहीं हो सकता। कवि वन के

पक्षियों की भाँति केवल अपने ही लिये नहीं गाता, उसके गीत में जीवन को नई गति, स्फूर्ति, सुन्दरता और सम्वेदना देने की चाह भी रहती है। इन्हीं कसौटियों पर प्रयोग भी कसा जायगा। क्या वह कवि के ध्येय में सहायक बनता है या अड़चन? क्या वह काव्य को समर्थ और समृद्ध बनाता है, अथवा कवि और समाज के बीच चीनी दीवार बनता है?

यह प्रश्न संगत है, क्योंकि पाश्चात्य कला में अनेक ह्रासोन्मूलक प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं, जिनका अनुकरण हिन्दी कविता के लिए शुभ नहीं होगा। यह प्रवृत्तियाँ पाश्चात्य कला की अभिव्यञ्जना-शक्ति को नष्ट कर रही हैं और उसे असामाजिकता की दिशा में ठेल रही हैं। 'सप्तक' के कवियों में भी इन प्रवृत्तियों की झलक मिलती है। इसीलिए ऊपर उठाए प्रश्न संगत हैं।

उदाहरण के लिये, उपमाओं को लीजिए। उपमा भाव को आलोकित करती है। वह कवि के लिये बौद्धिक विलास की वस्तु नहीं है। उपमा के विद्युत-आलोक में पाठक अधिक समझता और ग्रहण करता है। गुरुदेव टैगोर की उपमायें उसे अधिक संवेदनशील बनाती हैं, उसकी भावनाओं को विचलित करती हैं और उसके हृदय को मथ डालती हैं। किन्तु प्रयोगवादी कवि शब्दों और उपमाओं की नूतनता से, उनकी विचित्रता से पाठक को चमत्कृत और आतंकित करना चाहता है। उसकी भाषा अर्थ को आलोकित नहीं करती, वरन् उसे छिपाती है। यह अभिव्यक्ति के साधनों का परिष्कार और शृंगार नहीं, उल्टे उनका विनाश है।

प्रयोगवादी कवि बसन्त का वर्णन इस प्रकार करता है—

> **"कोई छः बजे सुबह-सुबह जैसे गरम पानी से नहाई हो**
> **खिली हुई हवा आई; फिरकी सी आई, चली गई**
> **ऐसे फुटपाथ पर चलते-चलते मैंने जाना कि बसन्त आया।"**

उपरोक्त उपमा बसन्त से ध्यान हटा कर गरम पानी से नहाने के सुख की ओर ध्यान आकृष्ट करती है। वह अति-सभ्य कवि की उपमा है जो बसन्त से अपरिचित है और जिसकी रचना का विषय-वस्तु उसकी अपनी काव्य-चातुरी है। प्रेरणा की ज्वाला में ढली हुई यह भाषा नहीं है, यह ठंडे लोहे को पीटने का प्रयास है।

'सप्तक'-द्वय के अधिकतर कवि प्रयोगवादी नहीं हैं, यद्यपि उनमें से अनेक प्रयोगवादी वृत्तियों के प्रभाव में आये हैं। प्रयोगवादी कलाकार विषय-वस्तु के प्रति उदासीन रहता है, वह अपना पूरा ध्यान अभिव्यञ्जना पर केन्द्रित करता

है। उसके प्रयोग दुरूहता और असामाजिकता के दोष से दूषित होते हैं। वह भाषा और संगीत के पुराने परम्परागत साँचों को तोड़ कर नवीनता के पीछे भटकता है। पाश्चात्य कला और साहित्य में प्रयोगवाद ऐसे ही चिन्तनीय रूपों में प्रकट हुआ है। उसकी दृष्टि सर्वथा नकारात्मक रही है। कलाकार मानों अपनी कला के माध्यम से कुछ भी व्यक्त नहीं करना चाहता। वह बेल-बूटे और शिल्प को ही कला का चरम लक्ष्य मान बैठता है। किसी समाज-विशेष के ह्रास-काल में ही कला ऐसे गुण प्रकट करती है। वह न तो जीवन को आगे बढ़ने में कोई स्फूर्ति दे सकती है, न कोई नया सौन्दर्य ही रच पाती है। पाश्चात्य देशों के यह प्रयोगवादी कलाकार बहुधा मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न हैं, किन्तु प्रयोग और रूप-मात्र की मृग-मरीचिका के पीछे वे निरर्थक भटकते रह जाते हैं, और उत्कृष्ट कला का सृजन नहीं कर पाते।

पहले 'सप्तक' के कवियों पर अपेक्षाकृत प्रयोगवाद का अधिक प्रभाव था। उनमें से अधिकतर तरुण साहित्यिक थे। वह चाय या सिगरेट के शौक को ही सामाजिक विद्रोह का बड़ा भारी प्रतीक मान बैठे थे। उस काल में कला के परम्परागत रूपों के प्रति विद्रोह प्रगतिशीलता का चिह्न समझा जाता था। किन्तु आज अनेक बातें अधिक स्पष्ट हैं। उसी अनुपात में दूसरे 'सप्तक' के अधिकतर कवियों की दृष्टि भी हम अधिक स्वस्थ और स्वच्छ पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि दूसरे 'सप्तक' के कवियों में पहले की अपेक्षा अधिक काव्य-प्रतिभा है। दूसरे 'सप्तक' के कवि प्रयोगवाद से अपेक्षाकृत कम प्रभावित हैं, और बहुधा अपनी बात को पाठक तक "तीर की भाँति पहुँचाना चाहते हैं।

भवानी प्रसाद मिश्र की कविता 'मंगल-वर्षा' कवि की अनुभूति को सहज स्वाभाविक और मधुर रूप देती है। कवि वर्षा का वर्णन करता है—

"पी के फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।
हरियाली छा गई, हमारे सावन सरसा री।

बादल आये आसमान में, धरती फूली री।
अरी सुहागिन, भरी माँग में भूली-भूली री।
बिजली चमकी भाग सखी री, दादुर बोले री।
अन्ध प्राण हो वहा, उड़े पंछी अनमोले री।

छन-छन उठी हिलोर, मगन मन पागल दरसा री।
पी के फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।"

भवानी प्रसाद मिश्र जीवन की व्यापक पीड़ा के प्रति भी सही और स्वस्थ दृष्टिकोण रखते हैं। वह लिखते हैं—

"इस दुखी संसार में जितना
बने हम सुख लुटा दें,
बन सके तो निष्कपट मृदु हास के
दो कन जुटा दें;
दर्द की ज्वाला जगायें, नेह
भींगे गीत गायें;
चाहते हैं गीत गाते ही रहें
फिर रीत जायें;
यह कि तब पछतायगी अपनी
विवशता पर प्रलय भी।
मत रहे तब झोंपड़ी
मिट जाय फिर नीलम-निलय भी!"

हरिनारायण व्यास ने अपने वक्तव्य में आज के कवि की समस्या को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। आप लिखते हैं—'तार सप्तक' में इन्हीं चीत्कारों का प्राधान्य है। किन्तु इस नये साहित्यिक स्वरूप को केवल चीत्कारों की टेरी बन कर समाप्त नहीं होना है। उसे अपनी वास्तविकता से परिचित होना है। किन्तु यह तो तभी हो सकता है जब कि व्यक्तिबिन्दु अपनी सामाजिक चेतना से जागरूक होकर आत्म-संघर्ष में न पड़े किन्तु समाज की प्रगतिशील शक्तियों के रुख को समझ कर उनसे जूझने के लिये अपनी आत्मीयता का रक्त दे और उन्हें सबल बनाये। वह अपनी वैयक्तिकता को इतना विशाल बनाये कि समाज की सारी आवश्यकतायें उसमें आ समायें और उसकी वाणी समाज के उस वर्ग की गीतिका बन सके जो सच्चा समाज है।'

यही स्वस्थ सामाजिक भावना हरि व्यास की कवितायें भी प्रकट करती हैं:

इस पुरानी जिन्दगी की जेल में
जन्म लेता है नया मन।
मुक्त नीलाकाश की लम्बी भुजायें
हैं समेटे कोटि युग से सूर्य, शशि, नीहारिका के ज्योति-तन।

हरि व्यास ने प्रकृति के अन्यतम चित्र अपनी तूलिका से उतारे हैं। वर्षा,

पतझर और शिशिर के परिवर्त्तन को वह जीवन में नये परिवर्त्तन का सूचक मानते हैं—

''हो चुका हेमन्त
अब शिशिरान्त भी नजदीक है।

पात पीले गिर चुके तरु के तले
आज ये संक्रान्ति के दिन भी चले।

नाश का घनघोर नक्कारा
सुबह के आगमन की गूँज देकर
डूबता जाता विगत के गर्भ में।
भागता पतझार अपनी ध्वंस की गठरी समेटे।''

हरि व्यास के गीत भारतीय गीति-काव्य की परम्परा में एक अनमोल कड़ी हैं। उन्हें पाश्चात्य प्रयोगवादी शैली का अनुकरण कहना असम्भव है—

''पहली असाढ़ की सन्ध्या में नीलांजन बादल बरस गये।
फट गया गगन में नील मेघ
पय की गगरी ज्यों फूट गई
बौछार ज्योति की बरस गई

झर गई बेल से किरन जुही।
मधुमयी चाँदनी फैल गई किरन के सागर बिखर गये।''

'दूसरा सप्तक' के अधिकांश कवियों की प्रेरणा स्वस्थ और सामाजिक है, किन्तु इसमें प्रयोगवादी तत्व भी अन्तर्हित हैं, जो अभिव्यञ्जना को निर्बल बनाते हैं। यह अन्तर्द्वन्द्व हम शमशेर बहादुर सिंह अथवा नरेश-मेहता के समान सामाजिक दृष्टिकोण रखने वाले कवियों की रचनाओं में भी देख सकते हैं। उदाहरण के लिये, शमशेर की रचना 'बात बोलेगी' सरलता को सभ्यता की पराकाष्ठा तक पहुँचा देती है—

''सत्य का
क्या रंग?
पूछो
एक संग।
एक—जनता का
दुःख एक।

हवा में उड़ती पताकायें
अनेक।
दैत्य दानव। क्रूर स्थिति!
कंगाल बुद्धि। मंजूर घर भर।
एक जनता का अमर वर।
एकता का स्वर।

—अन्यथा स्वातन्त्र्य इति।"

शमशेर सहज और स्वाभाविक रूपों में अपनी प्रेरणा को प्रवाहित कर सकते हैं, यह उनकी 'समय का रथ', 'वसन्तवती', 'आले दीप' आदि कविताओं से स्पष्ट है।

'दूसरा सप्तक' जिन कवियों की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करता है, उनमें नरेश मेहता महत्वपूर्ण हैं। इनकी रचनायें हिन्दी-काव्य में एक नई, उगती शक्ति की सूचना हैं। मधुर संगीत, अनमोल उपमायें और शब्द-चित्र इनकी प्रतिभा के विशेष गुण हैं। साथ ही उन्नत भावना को वह व्यापक जीवन-दर्शन के साँचों में ढाल रहे हैं, 'समय देवता' के समान समर्थ रचना के पीछे यही रहस्य है। इनके संगीत और उपमाओं का अनुमान हम अनेक पंक्तियों से पा सकते हैं—

"उदयाचल से किरन-धेनुयें,
हाँक ला रहा वह प्रभात का ग्वाला!

पूँछ उठाये, चली आ रही
क्षितिज जंगलों से टोली,
दिखा रहे पथ इस भूमी का
सारस सुना-सुना बोली,
गिरता जाता फेन मुखों से
नभ में बादल बन तिरता,
किरन धेनुओं का समूह
यह आया अन्धकार चरता,

नभ की आम्र छाँह में बैठा, बजा रहा वंशी रखवाला!"

'समय देवता' की प्रथम पाँच पंक्तियाँ हर पंक्ति में नया शब्द-चित्र प्रस्तुत करती हैं।

"सोने की वह मेघ चील,
अपने चमकीले पंखों में ले अन्धकार अब बैठ गई दिन अण्डे पर
नदी वधू की नभ का मोती चील ले गई।
गगन बीड़ से सूरज ग्वाला हाँक रहा है दिन की गायें।
नभ का नीलापन चुप है दिशि के कन्धों पर सिर धर।"

'समय देवता' में कवि विश्व के व्यापारों पर एक व्यापक दृष्टि डालता है। उसकी वर्णन-शक्ति के साथ उसकी दृष्टि का यह प्रसार कविता में Epic का गुण ला देता है। कवि प्रयोगों से ऊपर उठ कर अपनी रचना में नया प्राण-बल घोल सका है, और समर्थ साहित्य रच रहा है।

'दूसरा सप्तक' के अन्य कवियों में भी प्रतिभा के ऐसे ही निश्चित प्रमाण मिलते हैं। यह दूसरी बात है कि अन्य कुछ कवियों को इस संग्रह में स्थान मिलना अधिक उपयुक्त होता, या न होता। वास्तव में ऐसे और भी संग्रह निकालना उचित होगा, जिनमें कवियों और रचनाओं का संग्रह और संकलन दूसरी दृष्टि से भी हो सकता है, जैसे केवल प्रतिभा की दृष्टि से, प्रयोगशीलता की ही दृष्टि से नहीं।

हमारा यह भी विचार है कि 'सप्तक' के कवियों के कुछ प्रयोग हिन्दी कविता को नया बल नहीं देंगे, वरन् उसे क्षीण ही बनायेंगे, इसमें संभवतः कुछ मतभेद भी हो सकता है।

'दूसरा सप्तक' ने हिन्दी काव्य की अनेक उदीयमान प्रतिभाओं की ओर साहित्य-जगत का ध्यान बरबस खींचा है, इसके लिये 'सप्तक' का स्वागत आवश्यक और स्वाभाविक है।

१७

'निर्गुण' जी की कहानी कला

श्री द्विजेन्द्रनाथ मिश्र हिन्दी में अनेक वर्षों से कहानियाँ लिखते चले आ रहे हैं। आपकी कहानियाँ 'माया' में बराबर छपती थीं, और अनेक वर्ष आप उसके सम्पादक भी रहे हैं। आपके अनेक कहानी-संग्रह छप चुके हैं, जिन में 'पूर्ति', 'टीला', 'कच्चा धागा' 'बहू जी' आदि उल्लेखनीय हैं। 'निर्गुण' जी प्रेमचन्द की परम्परा के हिन्दी में आज प्रमुख कहानी-लेखक हैं, किन्तु फिर भी आपकी कहानियां का हिन्दी की साहित्यिक दुनिया को बहुत कम ज्ञान है। आपकी कहानियों में से अनेक, जैसे 'आसरा', 'बच्चे', 'पड़ौसी', 'चूड़ियाँ', 'साबुन', 'रावण' आदि निस्संदेह हिन्दी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से हैं। यदि आपकी सर्वश्रेष्ठ कहानियों का एक संकलन तैयार किया जाय, तो निश्चय ही प्रेमचन्द की कहानियां को छोड़ कर वह अन्य किसी भी प्रतिष्ठित हिन्दी कहानी-कार की तुलना में अच्छा ठहर सकता है। आपकी कहानियाँ अधिकतर 'माया' के पन्नों तक सीमित रही हैं, इसी कारण साहित्य-जगत् का ध्यान आपकी ओर अधिक नहीं खिंचा है। किन्तु जिन-जिन साहित्यकारों ने आपकी रचनाएँ पढ़ी हैं, वे सभी आपकी कला के मर्म-स्पर्शी और हृदय-द्रावक गुण से प्रभावित हुए हैं। ऐसे साहित्यकारों में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी और श्री नागार्जुन का उल्लेख हो सकता है।

'निर्गुण' जी का जीवन संघर्षों में बीता है। आप बदायूँ के निवासी हैं। छात्र-जीवन आपका खुर्जा में बीता। बाद में जब आप काशी में शिक्षा पा रहे थे तभी आपने 'माया' का कार्य-भार सँभाला। 'माया' लोक-प्रिय कहानी-पत्रिका होते हुए भी बड़ी डावाँडोल स्थिति में थी और उसके मालिक पत्रिका बन्द करने की बात सोच रहे थे। युद्ध के दौर में 'माया' खूब जम गई और आज हिन्दी के सभी पत्र-पत्रिकाओं में सबसे अधिक समृद्ध है। 'निर्गुण' जी काशी में पढ़ रहे थे, और 'माया' का सम्पादन भी कर रहे थे। आपके जीवन का यह

काल बहुत संघर्ष और पीड़ा से भरा था। आज-कल 'निर्गुण' जी गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज, बनारस में अध्यापक हैं।

हम 'निर्गुण' जी की कहानियाँ पढ़ कर सोचते हैं, यह हमारी पृथ्वी रत्न-गर्भा है। 'निर्गुण' जी के समान ही न जाने और भी कितने गुदड़ी के लाल यहाँ अज्ञात पड़े होंगे। किसी और देश में इनकी प्रतिभा की कितनी भारी प्रतिष्ठा होती।

'निर्गुण' जी ने भारतीय जीवन की पीड़ा को उसके व्यापक रूप में देखा है। आप उदासी भरी शाम का वर्णन करते हैं, जब व्यथा से बोझिल बादल आकाश में लदे खड़े हों, अथवा इतनी नीरवता हो, कि पत्ता तक न खटकता हो; जब लगता हो कि आकाश का हृदय फूट कर बह निकलेगा। आपने गाँव की साँझों का वर्णन किया है, और शहर की सन्ध्या का भी, जब एकाकिनी को संसार में अपना कोई दिखाई नहीं पड़ता। 'निर्गुण' जी भारतीय जीवन की इस सर्वव्यापी व्यथा का कोई कारण नहीं बताते, किन्तु आप इसे दिशि-दिशि में व्याप्त देखते हैं।

'निर्गुण' जी ने ग्राम-जीवन के सजीव चित्र बार-बार खींचे हैं। 'मुन्शीजी', 'आसरा', 'पड़ौसी', 'रावण', 'केले के तीन पेड़' आदि इस चित्रण के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। आप ग्राम-जीवन का कोई अंश ले लेते हैं, और उसका बड़ा मर्म-स्पर्शी, हृदयग्राही चित्र उतारते हैं। आपने प्रेमचन्द के समान ग्राम-जीवन में किसान का संघर्ष और विद्रोह तो नहीं देखा, किन्तु व्यक्तियों का और परिवारों का करुण क्रन्दन आपने निरन्तर सुना है। प्रेमचन्द के बाद ग्राम-जीवन का इतना कुशल चित्रकार हिन्दी कहानी को नहीं मिला। उपन्यास के क्षेत्र में अवश्य नागार्जुन का 'बलचनमाँ' ऐसा ही अपूर्व प्रयास है। 'बलचनमाँ' में नागार्जुन बिहार के खेतिहर किसान के संघर्षमय जीवन पर एक मर्मवेधी दृष्टि डालते हैं; नागार्जुन की दृष्टि करुणा से भीगी है, किन्तु आधार आत्म-कथा होते हुए भी वह निर्मम यथार्थवादी रहे हैं।

'निर्गुण' जी का ग्राम्य-चित्रण यदि बरबस हमें प्रेमचन्द का स्मरण दिलाता है, तो गृहस्थ-जीवन के आपके व्यथा भरे चित्र उसी मात्रा में हमें शरद् की कला का स्मरण कराते हैं। वास्तव में ग्राम की पृष्ठभूमि हो, अथवा शहर की, 'निर्गुण' जी गृहस्थ-जीवन की मर्म-व्यथा पर ही दृष्टि रखते हैं, और व्यक्ति के चरित्र को कथा का केन्द्र-बिन्दु बनाते हैं। इस संबंध में प्रेमचन्द अथवा शरद् बाबू के नाम याद आना दुस्साहस न होकर वास्तविकता मात्र है, इसका उदाह-

रण 'आसरा', 'साबुन', 'चूड़ियाँ', 'बच्चे', 'मुन्शी जी' आदि कहानियाँ हैं। इन कहानियों की अपनी दुर्बलताएँ और सीमाएँ हैं, किन्तु उनमें बसी जीवन-दृष्टि, उनकी अनुभूति और मर्म-व्यथा निर्विवाद है।

'साबुन' शीर्षक कहानी को लीजिए। इसमें एक गृहस्वामिनी का चित्रण है, जो अपना सर्वस्व निछावर करके पूरे परिवार का पालन-पोषण करती है। विशेष रूप से अपने देवर को वह पुत्र समान देखती है और अनेकों बार लड़ाई-झगड़ा होने पर भी उसकी सुख-शान्ति के हेतु अनेकों बलिदान करती है। कितनी कोमल और सूक्ष्म अनुभूति इस चित्रण में है, यह हम कहानी पढ़ कर ही हृदयंगम कर सकते हैं।

'निर्गुण' जी के पात्र मन का अन्तरतम स्पर्श करते हैं, क्योंकि कथाकार की अनुभूति में वास्तविकता और सचाई है और उसकी दृष्टि करुणा से विगलित होकर सर्वत्र पड़ी है। 'पड़ौसी' में दो विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में वैमनस्यता होते हुए भी अन्त में विजय मनुष्यता की ही होती है। 'रावण' शीर्षक कहानी में एक मुसल्मान शिल्पी रामलीला के लिए कठोर बीमारी की अवस्था में भी रावण की मूर्ति बनाता है और भयंकर वर्षा से उसकी रक्षा करते हुए प्राण त्यागता है।

'निर्गुण' जी के वर्णन अतिरंजित नहीं होते। उन्हें पढ़ कर पाठक को कभी यह नहीं लगता कि कलाकार ने किसी भी तरह की खींचतान की है। वह कोई निष्कर्ष निकालने के लिए चरित्रों और घटनाओं को तोड़ते-मरोड़ते नहीं हैं। यह कहानियाँ कलाकार के हृदय को बेध कर निकली हैं, इसी कारण इनमें इतना जीवनरस है; मानों कलाकार ने अपने हृदय के रक्त से इन्हें लिखा है।

'निर्गुण' जी ने अपनी कहानियाँ अधिकतर 'माया' के लिए ही लिखी थीं। इसकी स्पष्ट छाप भी आपकी कला पर है। आपकी कला निरन्तर विकास के पथ पर है। जो कहानियाँ आपने पिछले दिनों में लिखी हैं, वे लगभग निर्दोष हैं, किन्तु पूर्व-काल की कहानियों में हमें दोष भी मिलते हैं। एक स्त्री और पुरुष के मिलन के साथ ही उनमें प्रेम का अंकुर फूट निकलता है। 'बहूजी' और 'कच्चा धागा' शीर्षक संग्रहों में हम यह दोष पाते हैं। जीवन में स्त्री पुरुष के यौन-सम्बन्धों के अतिरिक्त और भी अनेक हृदय-ग्राही सम्बन्ध हैं, इसका परिचय हम लेखक के अन्य प्रयासों में पाते हैं। इसके उदाहरण के रूप में 'बच्चे' शीर्षक कहानी को ले सकते हैं।

अन्य कहानियों में घटना-बाहुल्य अधिक है। जीवन की धारा साधारणतया इतनी वेगवती नहीं होती जितनी हम 'माया' की कहानियों में पाते हैं। 'मुन्शी

जी' अथवा 'केले के तीन पेड़' मर्मस्पर्शी कहानियाँ होते हुए भी इस दोष से सर्वथा मुक्त नहीं हैं। जीवन की स्वाभाविक मन्द गति में भी हम अनन्य करुणा देख सकते हैं, यह 'बच्चे' के समान कहानियाँ सिद्ध करती हैं।

'निर्गुण' जी की कला का विकास-क्रम यह स्पष्ट करता है कि वे करुणा के साथ संयम और अधिकाधिक प्रौढ़ता और गहराई की ओर निरन्तर बढ़ रहे हैं।

भारतीय जीवन आज सामान्य मनुष्य के लिए दुःख, पराजय और निराशाओं का केन्द्र-स्थल बन रहा है। 'निर्गुण' जी की कहानियाँ पाठक का ध्यान बरबस ही इस विडम्बना की ओर खींचती हैं और उसके समस्त शान्ति-संतोष को हिला कर उसके हृदय को मथ डालती हैं। इस प्रकार वे उसे श्रेष्ठतर मनुष्य और नागरिक बनाती हैं।

'निर्गुण' जी आज के हिन्दी कहानीकारों में अद्वितीय हैं, क्योंकि हमारे समस्त जीवन की करुणा और व्यथा जितनी सजीवता से उभर कर उनकी कहानियों में आई है, वह अन्यत्र इस तीव्रता और गहराई में हम नहीं पाते। यह कहा जा सकता है कि उनकी कला और शिल्प में कोई नूतनता नहीं है। वह सीधे-सादे ढंग से कहानी कहते चले जाते हैं। भाषा को नहीं निखारते, बहुत बनाव-सिंगार नहीं करते। अतएव उनकी कहानियाँ प्रेमचन्द की कला तक ही सीमित हैं, और आगे नहीं बढ़ सकीं। कठिनाई वह है कि जो प्रेमचन्द की कला से आगे बढ़ने का भ्रम रखते हैं, उन्होंने शायद गद्य-गीत और निबन्ध तो अधिक लिखे हैं, लेकिन कहानियाँ कम लिखी हैं। यदि कोई कहानीकार सफलतापूर्वक प्रेमचन्द के पथ पर चल सका है और उनकी परम्परा निर्वाह कर रहा है, तो अवश्य उसका अभिनन्दन होना चाहिए।

१८

मुक्तिपथ

'मुक्तिपथ' जोशीजी की साहित्य-यात्रा में एक नए शुभ चरण का सन्देश है। आपके उपन्यास तीन मंजिलों से गुजरे हैं : पहली मंज़िल में आपने 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया' लिखे : दूसरी में 'निर्वासित', 'मुक्तिपथ' हमें एक नई मंजिल तक पहुँचाता है।

पहले चरण में जोशीजी जगत के व्यापारों की मानसिक गुत्थियाँ खोलकर सुधारना चाहते थे। फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र का इन रचनाओं पर गहरा प्रभाव था। 'प्रेत और छाया' में आपने एक प्रकार से 'ईडियस काम्पलेक्स' को कथा का विषय-आधार बनाया। फ्रायड का विचार-दर्शन यौन-सम्बन्धों को जीवन का प्रमुख तत्व मानकर चलता है। मनुष्य के स्वप्न, आदर्श के लिये अनन्त बलिदान की उसकी क्षमता, मानव स्वभाव के उच्चतम तत्व...इनके प्रति मनोविश्लेशण-शास्त्र उदासीन है। वह जीवन को सतत घृणित और कुत्सित ही देखता है। इस विचार धारा से प्रभावित साहित्य में वह तत्व ही उभर कर आते हैं।

'निर्वासित' में जोशीजी ने राजनीति की पृष्ठभूमि में कथा को रक्खा। आपने मानवी को अभिशप्ता और युग-युग से त्रस्त और प्रताड़ित प्राणी के रूप में देखा। आपका विचार-दर्शन इस काल में आतंकवाद से प्रभावित था। आपका विश्वास था कि क्रान्ति का नेतृत्व मध्य वर्ग का बुद्धिजीवी ही कर सकता है।

'मुक्तिपथ' में कथा की धारा में एक निर्मलता और स्वच्छता है, जो हम पहली बार इस वेग, शक्ति और गहराई से जोशीजी के साहित्य में बहते हुए देखते हैं। इस कथा की केन्द्रबिन्दु सुनन्दा है। कथा का विषय शोषण के चक्र में पिसती हुई भारतीय नारी है। वह अपने दृढ़ प्रहार से सदियों के बन्द द्वार-कपाट खोलती है और मुक्ति का पथ अपनाती है।

सुनन्दा एक तरुण विधवा है। लखनऊ में वह एक सम्भ्रान्त परिवार में घर का सब काम-काज सम्हाले रहती है। यहाँ उसका परिचय राजीव से होता है, जो किसी समय आतंकवादी था किन्तु अब सामूहिक संगठनों की ओर झुकता है। राजीव के सम्पर्क से वह अनुभव करती है कि उसे पंख खोलकर मुक्त आकाश में उड़ना चाहिये। वह पिंजरे से भाग निकलती है। 'स' नाम के नगर में पहुँचकर सुनन्दा और राजीव शरणार्थियों के बीच रहते हैं, वह नवजीवन के निर्माण में कमर कसकर जुट जाते हैं। 'मुक्तिनिवेश' नाम की वह 'कौलोनी' बनाते हैं जिसमें सामूहिक श्रम, नए लहलहाते, मुक्त जीवन का आधार बनता है।

कथा का यह अंश हमें कुछ 'यूटोपियन' लगता है। शरणार्थी बंजर भूमि को जोतकर उर्वरा बनाते हैं, किन्तु इसके लिये उन्हें शासक वर्ग से कोई संघर्ष नहीं करना पड़ता। 'मुक्ति निवेश' हमें कुछ-कुछ प्रेमचन्द के आश्रमों का ध्यान दिलाता है। किन्तु, इस उपन्यास का अन्त यथार्थ की ठोस भूमि पर हुआ है। सुनन्दा आश्रम के जीवन से पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं होती, वह अपने जीवन में अपूर्णता पाती है। उसके इस अभाव के प्रति राजीव ने आँख मूँद रखी थी। 'मुक्तिपथ' का अन्त इस असन्तोष की अभिव्यक्ति से होता है।

'मुक्तिपथ' में कथानक की गति में और गद्य की शैली में एक स्वच्छ और प्रांजल प्रवाह है, जो जोशीजी की कला में अभूतपूर्व है। आपके कथानक का घटना जाल अत्यन्त रोचक है, और आपकी भाषा पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सरल और सीधी है।

जोशीजी के वर्णन अत्यन्त मार्मिक हैं, लखनऊ की सड़कों, गलियों और पार्कों में अविरल बहता मानव-जीवन, घर की चहारदीवारी में बन्द नारी का रुद्ध जीवन, उसकी मुक्त आकाश में विहार करने की आकांक्षा, बन्जर जीवन को लहलहाती खेती में परिणत करने का शरणार्थियों का प्रयास, परस्पर के स्नेह, कलह, ईर्ष्या-द्वेष और प्रेम के सम्बन्ध...इनके बड़े सफल चित्र जोशीजी ने उतारे हैं।

राजीव के लम्बे भाषण में जोशीजी नई समाज व्यवस्था का अपना आदर्श प्रस्तुत करते हैं। राजीव कहता है : 'इस युग में पिछले युगों की रूढ़िगत परम्पराएँ एक-एक करके ध्वस्त होती चली जा रही हैं और समस्त संसार के विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों से एक नई संस्कृति, एक नए आदर्श और एक नई विश्वव्यवस्था की पुकार मची हुई है। वर्तमान आर्थिक, राजनीतिक और सामा-

जिक व्यवस्थाओं के प्रति सर्वत्र असन्तोष की लहरें उमड़ उठी हैं। सर्वत्र मानवता के चिन्तनशील प्रतिनिधि यह महसूस करने लगे हैं कि मानव-समाज के भीतर जो असमता, असामंजस्य और असन्तुलन वर्तमान है। वह अस्वाभाविक है और विश्व की वास्तविक प्रगति में एक विराट बाधा, एक प्रचण्ड अवरोध खड़ा कर रहा है।"

जोशीजी समझते हैं कि मनुष्य का सांस्कृतिक स्तर उठाने की ओर ध्यान कम कर दिया जा रहा है....उन देशों में भी, जहाँ क्रान्ति हो चुकी है। जो व्यक्ति इस नए जीवन को अपनी आँखों से देख आए हैं उनके वक्तव्य साक्षी हैं कि इन देशों में जनता का मानसिक और सांस्कृतिक धरातल निरन्तर ऊँचा हो रहा है, और इन आधारभूत समस्याओं की ओर यह देश कदापि उदासीन नहीं है। मानवता को विकसित करने के लिये, मनुष्य मात्र को अधिक सुसंस्कृत बनाने के लिये, संसार में व्यापक संघर्ष चल रहे हैं। नई समाज-व्यवस्था के भौतिक आधार तैयार होने पर नई संस्कृति की इमारत अवश्य खड़ी होगी और नई मानवता का निर्माण होगा, अन्यथा सामाजिक संघर्ष निरर्थक है।

'मुक्तिपथ' मत्स्य स्वार्थों पर निरन्तर निर्मम प्रहार करता है। सामाजिक अन्याय, युद्ध और साम्राज्यवादी षड्यंत्र, साम्प्रदायिकता आदि पर जोशीजी कठोर प्रहार करते हैं। आप लिखते हैं : 'मत्स्य न्याय भी समाज में चल रहा है। समाज के निम्नतम स्तर में अवस्थित अत्यन्त छोटी-छोटी मछलियां को उनसे कुछ बड़ी मछलियाँ निगलने की धुन में हैं, उन किंचित बड़ी मछलियों को उनसे भी बड़ी मछलियाँ निगलने जा रही हैं और अन्त में बड़े-बड़े मगर मच्छ उन सबको अपने बृहत् पाचन-यन्त्र में डाल कर हज़म कर रहे हैं। इस बात पर गम्भीर रूप से विचार करने का किंचित मात्र भी अवकाश किसी को नहीं है कि संयोगात्मक रूप से, बृहत् समाज के महान सामूहिक कल्याण की ओर प्रयत्नशील हुये बिना मानव-जीवन के विकास का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता...न व्यक्तिगत, न राष्ट्रीय और न अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से।'

जोशीजी साम्राज्यवादी शोषण और युद्धों के विरोध में भी स्पष्ट और तीव्र स्वर उठाते हैं। राजीव के शब्दों में वह कहते हैं : 'जब तक आज के संसार की अत्यन्त संकीर्ण रूप से भौतिक और भ्रष्टाचारी मनोवृत्ति में परिवर्तन नहीं होता, जब तक विश्व-समाज का कोई वर्ग अधिकाधिक अर्थ संचय के निरर्थक प्रलोभन के दलदल में स्वयं फँसते चले जाने और अपने साथ दूसरों को भी उस कभी न अन्त होने वाले अतल में घसीटते रहने के चक्कर में पड़ा रहेगा,

जब तक सम्मिलित राजनीतिक और आर्थिक कारणों की चक्की में जनसाधारण को पिसते रहने के लिये बाध्य किया जायगा, और उनकी व्यापक मुक्ति के, सभी वर्गों के साथ उन्हें समान स्तर पर लाने के प्रयत्नों में रुकावटें आती रहेंगी, जब तक एक राष्ट्र अपने संकीर्ण स्वार्थों के लिये दूसरे राष्ट्रों को धुप्पलबाजी के चक्कर में डालने और धोखा देने में ही राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय 'आदर्श' की महान् पूर्ति समझेगा, तब तक संसार में सामूहिक हिंसा के संगठित प्रयत्नों का अन्त हो जाना सम्भव नहीं है। केवल इतना ही नहीं, तब तक हिंसा सम्बन्धी वैज्ञानिक उपायों में आश्चर्यजनक रूप में वृद्धि होती चली जायगी और व्यापक विनाश के नये नये अस्त्रों के निर्माण में रत राष्ट्रों के बीच में होड़ लगी रहेगी, तब तक कोई भी अहिंसावादी, चाहे उसका व्यक्तित्व कितना ही महान क्यों न हो, आज के युग में केवल अपने विचारों के व्यापक प्रचार से हिंसा को अणु मात्र भी मिटाने में समर्थ न हो सकेगा।'

जोशीजी साम्प्रदायिक हिंसा की निन्दा भी ऐसे ही स्पष्ट और तीखे शब्दों में करते हैं। राजीव, जो अधिकतर लेखक के विचारों को व्यक्त करता मालूम होता है, कहता है: 'साम्प्रदायिक अन्धवृत्तियों से प्रेरित होकर भाई-भाई आपस में कट मरे, करोड़ों नर-नारी जिस जमीन की मिट्टी को सदियों से अपनाये हुये थे, उससे मूलतः छिन्न होकर घरबार छोड़ देने और अनाथ, असहाय अवस्था में दर-दर भटकते फिरने को बाध्य हुये, स्त्रियाँ पतियों, पिताओं और भाइयों से छिन्न हुईं, बच्चे माताओं की गोद से छूटकर दानवता की कराल दाढ़ों के बीच में जा फँसे, और सबसे विकट बात यह हुई कि इन सबके परिणाम-स्वरूप जब राष्ट्र द्विधा विभक्त हुआ, तब एक भाई राष्ट्र दूसरे भाई राष्ट्र का इतना बड़ा शत्रु बन बैठा कि प्रतिहिंसक प्रवृत्तियों की कोई सीमा ही न रही।'

आधुनिक भारतीय परिस्थिति पर निरन्तर दृष्टिपात करते हुये जोशीजी कथा के तार को बढ़ाते हैं। संसार शान्ति, सुख समृद्धि के लिये भूखा है, उच्चतम कला और संस्कृति के लिये भूखा है। इन संघर्षों में रत मानव का वर्णन जोशीजी करते हैं: राजीव का, जो सतत संघर्ष में लीन रहा है: सुनन्दा का जो अपने मृदु कठिन प्रहारों से सामन्ती कारागार के द्वार खोल कर बाहर निकलती है, विजय, प्रमीला, कृष्णा, उमाप्रसादजी, अनेक सजीव चित्र कलाकार ने अपनी तूलिका से उतारे हैं।

जोशीजी की यह नवीन कला-कृति मनुष्य के उच्चतम प्रयासों को सफल बनाने में सहायक होगी, यह निर्विवाद है। उपन्यास में कला की परिभाषा

जोशीजो इस प्रकार करते हैं, राजीव सुनन्दा से कहता है : 'कला जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुये है। उसकी अवज्ञा न तुम कर सकती हो न मैं। जीवन में जहाँ कहीं भी असन्तुलन और असामंजस्य है, वहाँ संतुलन और सामञ्जस्य लाकर, जहाँ कहीं भी विशृङ्खलता और अव्यवस्था है, वहाँ शृङ्खला और व्यवस्था प्रदान कर कला ने जीवन को रूढ़ता की स्थिति से प्रौढ़ता प्रदान की है।'

इस कसौटी पर कसने से 'मुक्तिपथ' एक उच्च कोटि की कला-कृति अवश्य ही उतरती है।

१९

'अपलक'

'अपलक' नवीनजी' के गीतों का नया संग्रह है। 'नवीनजी एक लम्बे युग से कविता लिखते आ रहे हैं, उनके अनेक गीत श्रोताओं ने उनके मुख से सुने हैं। किन्तु जिस प्रकार की निराशा आलोचक को उनके संकलन 'कुंकुम' से हुई थी, वही 'अपलक' से भी होती है। शायद 'नवीन' के स्वर में जो आकर्षण है वह इन कविताओं को पढ़ने में नहीं मिलता। अकसर भाषा ऊबड़-खाबड़ है, कहीं-कहीं अत्यन्त बोझिल है, और अधिकतर अपने स्तर में असम है। इन गीतों को पढ़कर पुरानी पीढ़ी और पुराने युग का अनुभव आज का पाठक करता है। 'यह लखो', 'मम तन मन' आँख के लिये 'अक्षु' 'ध्यान तुम्हारा धरा करें हैं', आदि विचित्र शब्द-प्रयोग 'नवीनजी' करते हैं!

तुकों का भी अजीब प्रभाव पाठक पर पड़ता है। पहले गीत में ही देखिये :

> **"निज विराट रूप त्याग, बिन्दु बनी तन्वंगी**
> **अपरिमेय, अमित माप राशि हुई अणवंगी,**
> **अगमा गति गम्य हुई अनिलानल रग पंगी।"**

'नवीनजी' ने कविता की साधना, जितनी आवश्यक होती है, वह नहीं की है। भूमिका में आपने यह स्वीकार किया है। आपके गीत खराद पर चढ़ाकर तराशे जाते, तो अवश्य ही उनकी शोभा अधिक होती।

'नवीनजी' के काव्य में गीत का स्वाभाविक और सहज प्रभाव अवश्य है। आपके गीत निराशा और अवसाद से भरे हैं। अकसर उनमें एक मस्ती, फक्कड़-पन और 'बोहीमियन स्वर' है, जो श्री भगवतीचरण वर्मा की 'आज यहाँ, कल वहाँ चले।' और उसी प्रकार की भाव धाराओं का स्मरण दिलाता है।

आप लिखते हैं :

"हम चले जा रहे हैं मग में,
अपने सर पर इक भार लिये,
अरमानों का अम्बार लिये,
हम ग्रीव झुकाए चलते हैं
दृग में मूरत साकार लिये..."

'नवीनजी' के गीतों में एक थकान है; 'जीवन भार है', यह भावना निरन्तर आपके गीतों में उभर कर आती है। यह उनके पिछले अस्त-व्यस्त जीवन की प्रतिध्वनियाँ हैं :—

"जग की छाती पर तिमिर भार,
सब ओर भर रहा अन्धकार,
जग की छाती पर तिमिर भार।"

'अपलक' की बहुत-सी कविताएँ प्रणय-सम्बन्धी हैं और उनमें सब कुछ अर्पण कर देने को आतुर एक भावुक हृदय प्रगट होता है :

"नेह के इस हाट में मैंने न जाना भाव क्या है।
भाव तावों में पड़े जो वह, सुरति का चाव क्या है।
दाँव पर जब प्राण हैं, तब शेष भी कुछ दाँव क्या है।"

'अपलक' की प्रस्तावना में 'नवीनजी' ने आधुनिक हिन्दी-आलोचना के सम्बन्ध में कुछ बातें कही हैं, जो नितान्त भ्रामक हैं। 'मनुष्य रोटी मात्र है, और इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है', 'तुलसी सामन्तवादी कवि थे', 'शैली पूँजीवादी कवि था' : इस प्रकार की स्थापनाएँ हिन्दी-आलोचना में आजकल कोई गम्भीर लेखक नहीं करता। शायद विद्यार्थियों के मुँह से आपने ऐसी बातें सुनी हों, या सोलह वर्ष पूर्व की प्रतिध्वनियाँ आपके कानों में गूँज रही होंगी। हम समझते हैं कि आज की हिन्दी-प्रवृत्तियों का गम्भीर अध्ययन करके किसी भी लेखक को कदम उठाना चाहिये।

अपनी प्रस्तावना में 'नवीनजी' ने ऐसी भाषा शैली भी अपनायी है, जो किसी पार्क के भाषण के अधिक उपयुक्त होती। आप लिखते हैं : 'इस देश के निवासियों को ज्ञात है कि अपने को पूँजीवाद के नाशकर्ता कहने वालों ने' वर्गहीन समाज की स्थापना का दम भरने वालों ने, अपने विप्लवकारी होने का ढिंढोरा पीटने वालों ने, मानवता के भयानक संकटकाल में असीम निर्लज्जता कुत्सित नीचता, घोर राक्षसीपन, नग्न बर्बरता, पाशविक रक्त-लिप्सा, जघन्यतम

स्वार्थपरता, घृणित अवसरवादिता, एवम् हिंजड़ेपन से भरी कायरता का परिचय देकर पहले फाशीस्त शक्ति से और तदनन्तर साम्राज्यवाद से, पेट के बल रेंग कर दाँत निपोर कर समझौता किया।'

इस पदावली के बाद भी 'नवीनजी' सत्समालोचना का आदेश देते हैं, यह बात विचित्र लगती है।

२०

"मैला आँचल"

'मैला आँचल' विहार के नवोदित उपन्यासकार श्री रेणु की पहली रचना है। उपन्यास में व्यक्त प्रतिभा और शक्ति समकालीन हिन्दी-साहित्य की एक स्मरणीय घटना है। श्री रेणु अपने उपन्यास को 'एक आँचलिक उपन्यास' कहते हैं। इसकी कथा-वस्तु बिहार के पूर्णिया जिले के अंचल से संबंधित है। इस 'हिस्से के एक गाँव को—पिछड़े गाँवों का प्रतीक मान कर' लेखक ने अपनी 'किताब का कथा-क्षेत्र बनाया है।'

जिस गहरे अनुभव और भावना से रेणु ने अपने परिचित ग्राम-जीवन को अंकित किया है, वह इस पीढ़ी के लेखकों में अद्वितीय है। पूरी तरह से डूबकर लेखक ने इस जीवन को अपनी कथा में सँजोया है। रेणु के लेखन में पूरा गाँव—उसके प्राकृतिक दृश्य, आर्थिक-सामाजिक जीवन, नर-नारी—चल-चित्र की भाँति सजीव होकर हमारे नेत्रों के सामने घूम जाते हैं। नागार्जुन ने तीव्र राजनीतिक चेतना से मैथिल ग्राम-जीवन का अंकन किया है; भैरव प्रसाद गुप्त, शिव प्रसाद सिंह और मार्कण्डेय ने उत्तर-प्रदेश के पूर्वीय जिलों का चित्रण अपने कथा-साहित्य में किया है और श्री लक्ष्मीनारायण लाल ने अवध के एक गाँव का। प्रेमचन्द के बाद की पीढ़ी शहर के मध्यम वर्गीय जीवन की ओर उन्मुख हुई थी, किन्तु हिन्दी की नई पौध एक बार फिर से प्रेमचन्द की परम्परा को दृढ़ और आश्वस्त हाथों से सम्हाल रही है।

'मैला आँचल' की राजनीतिक पृष्ठ-भूमि में सन् ४२ की घटनाओं से लगाकर सन् ४७ का शासन-परिवर्त्तन और काँग्रेस-राज का विवरण है। किसान गाँधी बाबा और 'जमाहिर लाल' को पूजते हैं; पुलिस आतंक से काँपते हैं; आज़ादी के सपने देखते हैं। कांग्रेस ने ऐलान किया कि जमींदारी प्रथा मिट गई, किसान जमीन ले सकता है; किन्तु जमींदार पहले से भी सशक्त हो गया है। पूरे गाँव की जमीन ही उसने अपने अधिकार में कर ली है। कांग्रेस में

पुराने जुएखोर और बदमाश घुस रहे हैं। नई पार्टियाँ, समाजवादी दल, 'कौमनिष्ट', काली टोपी वाले जनता के बीच अपना प्रभाव स्थापित कर रहे हैं। कांग्रेस के पुराने कार्यकर्ता खिन्न होकर सोचते हैं, क्या करें ? वे गाँधी जी को पत्र लिखते हैं। गान्धी जी धैर्य न खोने का परामर्श देते हैं।

लेखक ने बड़े संयम से इस जीवन का चित्र खींचा है। यहाँ की गरीबी, अन्ध-विश्वास, जात-पाँत का आडम्बर, सुखी जीवन की लालसा, यहाँ के ढोल-मृदंग और लोक-गीत, 'जोतखी' और डाक्टर, संथाल और जमींदार। मिट्टी की सोंधी महक इस उपन्यास के कण-कण में है। 'विशाल मैदान—नेपाल से शुरू होकर गंगा किनारे तक—वीरान धूमिल—अंचल।...मैदान की सूखी हुई दूबों में चरवाहों ने आग लगा दी है—पंक्तिबद्ध दीपों जैसी लगती है दूर से।... तड़बन्ना के ताड़ों की फुनगी पर डूबते हुये सूरज की लाली क्रमशः मटमैली हो रही है।..." *

कथा में निरन्तर लोक-गीतों की गूँज है। भाषा सीधी-सादी अपभ्रंश-मिश्रित है। लगता है कि पूरी कथा गाँव की शैली में लिखी गई है। बीच-बीच में बाजों का सुर हम सुनते हैं : तिक्-धा; डिम-डिम, डिम-डिम, रिंग-रिंग। गीतों की ध्वनि वायु में लहरती है :

"आहे तन मन बदन मदन सहजोर हे,
"आहे दामिनी ऊपर...
"आहे दामिनी ऊपर उगलय चान हे।" †

बड़ी मधुर यह तद्भव-पूरित भाषा है। "आज 'पुरनिमाँ' है। कल से यदि 'बरखा' नहीं हुई तो सारा 'पख' सूखा रहेगा।" ‡ कभी-कभी ऐसा अवश्य अनुभव होता है कि बोली के प्रयोगों से लेखन की शैली अधिक बोझिल हो गई है। उदाहरण के लिए :

"...'धमदाहा-संकरपुर का बिदायद। बँसगड़ा की बलवाही और औराही-हिंगना का 'भटियाली भकते'। सुध 'नारदी' गाते हैं औराही वाले। कोयलू खोलबाहू और सीतानाथ बाबू मुलगैन ! सीतानाथ बाबू का गला 'बुढारी' में भी कितना तेज है।" §

फुहार गिर रही है। पुरवैया बह रही है। सोने के खेत लहलहा रहे हैं। वायुमंडल में गीत गूँज रहे हैं। ढोलक गमक रही है। गाँव वाले 'वीर जमा-

* पृष्ठ ४०२–३। † पृष्ठ ६७। ‡ पृष्ठ २३४। § पृष्ठ २८२।

हिर', मस्ताना भगत सिंह और 'रजिन्दर बाबू' की बात करते हैं। फसल पर सन्थालों और शेष गाँववालों में लड़ाई होती है। संथाल अपनी फसल की रक्षा के लिए तीर चलाते हैं; शेष गाँववाले उन्हें घेर लेते हैं। दो दर्जन संथाल, दो सौ उन्हें घेरे हैं। संथालिनों पर बुरी बीतती है। पुलिस आती है, गोली चलती हैं। संथालों को आजीवन कारावास होता है। अकेला डाक्टर ही ज़मींदार की चाल समझता है। आज तुम्हारे साथ मिलकर संथालों से ज़मीन छीनी है, कल तुम्हारे साथ भी यही होगा। डाक्टर को 'कॉमनिस्ट' कहकर जिले के कांग्रेसी नेता गिरफ्तार करवा देते हैं! *

'मैला आँचल' किसी एक व्यक्ति अथवा परिवार की कहानी नहीं, पूरे गाँव की यह कहानी है। सभी परिवारों और टोलों की कथा को एक सूत्र में यह बाँधती है। कायथ टोली, राजपूत टोली, मालिक टोली, ततमा टोली, यादव टोली। गाँव में तीन प्रमुख दल हैं, 'कायस्त', राजपूत और यादव। इनके अपने-अपने नेता हैं, विश्वनाथ प्रसाद मल्लिक, टाकुर राम किरपाल सिंह, खेलावन यादव। कांग्रेस के नेता हैं, बालदेव; सोशलिस्ट के कालीचरन। मठ के महन्त हैं, सेवादास; उनका चेला है, रामदास; कोटारिन लक्ष्मी है। जोतखी जी हैं, जो पुरातन पंथी हैं, दवा-दारू का विरोध करते हैं और भूत-प्रेत में विश्वास रखते हैं। इनके अलावा संथाल हैं, जो अपनी बस्ती में अलग दूर रहते हैं।

गाँव में डाक्टर आता है। वह मलेरिया और कालाज़ार के कीटाणुओं के संबंध में यहाँ रिसर्च करेगा। वह अज्ञात कुल-शील, उदार-प्राण नवयुवक है। सेवा का व्रत ग्रहण करके गाँव में आया है। बिना फ़ीस लिए वह दवा करता है। जब गाँव में हैजा फैलता है, दिन-रात परिश्रम करके वह इससे संघर्ष करता है और विजयी होता है। ज़मींदार की पुत्री, कमला को वह नीरोग करता है। वह माँ-बाप की इकलौती बेटी है, बड़े लाड़-प्यार से पली है। कमला से माँ कहती है, 'बेटी, आँचल न मैला हो!' किन्तु आँचल मैला हो जाता है!

गाँव की नग्न वास्तविकता उपन्यास में बिना किसी लाग-लिपटाव के अंकित की गई है। सेवादास का अपनी 'दासी', लछमी से अनुचित संबंध है। फुलिया को गर्मी हो गई है। कालीचरण का प्रेमबंधन चरखा-संघ की मंगला से हो जाता है। यह ग्रमीण सरल हैं, उदार हैं; किन्तु कायर और भयानक भी हो सकते है। डाक्टर सोचता है—

* पृष्ठ २७५।

'क्या होगा मानव कल्याण करके ?···मान लिया कि उसने काला-आज़ार की एक रामबाण औषधि का अनुसंधान कर लिया, अमृत की एक छोटी शीशी उसे हाथ लग गई, किन्तु इसके बाद ? इसके बाद जो होता आया है, होगा। आखिर, पाँच आने का एक 'सेम्पुल' पचास रुपये तक बिकेगा···यहाँ तक उसकी पहुँच नहीं होगी !···और यहाँ का आदमी जीकर करेगा क्या ? ऐसी ज़िन्दगी ? पशु से भी सीधे हैं ये इन्सान । पशु से भी ज्यादा खूँखार हैं ये···। ···पेट ! यही इनकी बड़ी कमज़ोरी है ।···मौजूदा सामाजिक न्याय-विधान ने इन्हें अपने सैकड़ों बाजुओं में जकड़ कर ऐसा लाचार कर रखा है कि ये चूँ तक नहीं कर सकते। फिर ये जीना चाहते हैं।···वह इन्हें बचाना चाहता है। क्या होगा ?" *

होता यह है कि ऐसे विचारों के लिए डाक्टर जेल में बंद कर दिया जाता है !

उपन्यास के संबंध में लेखक का कथन है—'इसमें फूल भी हैं, शूल भी; धूल भी है, गुलाल भी; कीचड़ भी है, चंदन भी; सुन्दरता भी है कुरूपता भी—मैं किसी से भी दामन बचाकर निकल नहीं पाया ।'

उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु संपूर्ण गाँव का जीवन है। इस कथा में कोई नायक नहीं है; यदि कोई है, तो डाक्टर। उसके गाँव में आने से कथा का आरम्भ होता है, और जेल-यात्रा से गाँव लौटने पर कथा का अन्त। किन्तु कथाकार की दृष्टि समान रूप से गाँव के सभी प्रतिनिधि पात्रों पर घूमी है। जमींदार की क्रूरता और उसके मोहक पिता-रूप का वर्णन निष्पक्षता से हुआ है। वह पूरे गाँव को लूटता है किन्तु पुत्री के सामने मोम के समान कोमल हो जाता है। बालदेव पर दृष्टि ठहरती है। वे गाँव के पुराने नेता हैं, किन्तु तेज़ी से बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों का मुकाबला करने में वे असमर्थ हैं। कालीचरण आगे बढ़कर उनका स्थान लेता है, किन्तु अर्द्धशिक्षित होने के कारण ज़मीदार के चक्र में फँस जाता है और संथालों के हितों की बलि दे देता है। जिन्हें पाठक कभी नहीं भूल सकता, वे हैं गान्धी जी के सच्चे भक्त, बावन दास। 'भारत-माता अब भी रो रही है !', नये कांग्रेसी नेता पुलिस के साथ मिलकर चोरबाज़ारी के माल से भरी गाड़ियाँ उनके शरीर के ऊपर से चला देते हैं और भारत-पाकिस्तान की सीमा पर नदी में उनका शव फेंक दिया जाता है। महिलाओं में

* पृष्ठ २७४।

लक्ष्मी के चरित्र का अंकन बड़ी सजीवता से हुआ है। वह उदार-हृदय नारी है, किन्तु अपनी परिस्थितियों से लाचार है और उसका आँचल भी मैला हुआ है। कमला के चरित्र में हमें काफ़ी दुर्बलता लगती है; वह मानो आटे की गुड़िया है, जिसे चाहे जैसे गूँथा जा सके। मौसी, मंगला, फुलिया आदि के चरित्र बड़े सजीव हैं। दर्जनों ग्रामीण मुखड़े पाठक की स्मृति में घूमते रहते हैं और उन्हें भूलना असंभव है।

कथा का अन्त ऐसी आशावादिता से हुआ है, जो अस्वाभाविक लगती है। कन्या को अवैध सन्तान देने पर भी ग्रामीण कुलीन परिवार में डाक्टर का सम्मान जमाई की हैसियत से होता है। जमींदार भूमि किसानों को बाँट देता है, लगता है कि गाँव में अब राम-राज्य आ गया। सभी के चेहरों पर खुशी है, 'मुर्दा चमड़ों पर लाली लौट रही है !! सैकड़ों जोड़ी आँखें खुशी से चमक उठती हैं—मानो दीप जले हों !'*

लेकिन अभी भारतीय ग्राम का भाग्य इस प्रकार पलटा नहीं है। इसलिए समस्या का यह हल आदर्शवादी हल है, जैसा प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों में हम पाते थे। जब तक पूर्णिया के किसानों के जीवन में आमूल परिवर्त्तन नहीं होता, हम श्री रेणु की लेखनी से इस समस्या पर नए उपन्यासों की प्रतीक्षा करेंगे।

'मैला आँचल' के लेखक की दृष्टि मूलतः मानवतावादी दृष्टि है। गाँव की सभी कुरूपताओं का, ग़रीबी, बीमारी और अन्ध-विश्वासों, भेद-भावों का उपन्यास में वह यथार्थ चित्रण करता है। भारत-माँ अब भी ज़ार-ज़ार रो रही है। उसका हृदय, बावन का पत्थर-सा हृदय, देश-वासियों के दुःख से द्रवित हो जाता है। आँसुओं और रक्त से भीगी लेखनी से वह लिखता है। नए-नए संकट संसार के सामने और देश के सामने आ रहे हैं। साम्राज्यवादी शक्तियाँ मानव-रक्त के लोभ से नए युद्ध की तैयारियाँ कर रही हैं। अणु-बम के सामने भीषण अस्त्रों का आविष्कार कर रही हैं। डाक्टर सोचता है—

'लेबोरेटरी !···विशाल प्रयोगशाला। ऊँची चहारदीवारियों में बन्द प्रयोग-शाला।···सम्राज्य-लोभी शासकों की संगीनों के साये में वैज्ञानिकों के दल खोज कर रहे हैं, प्रयोग कर रहे हैं।···गंजी खोपड़ियों पर लाल-हरी रोशनी पड़ रही है !···मारात्मक, विध्वंसक और सर्वनाश-शक्तियों के सम्मिश्रण से एक ऐसे 'बम' की रचना हो रही है—जो सारी पृथ्वी को हवा के रूप में परिणत

* पृष्ठ ४०६।

कर देगा।···एटम 'ब्रेक' कर रहा है।···मकड़ी के जाल की तरह···। चारों ओर एक महा अंधकार ! सब वाष्प ! प्रकृति-पुरुष···अंड-पिंड···! मिट्टी और मनुष्य के शुभचिंतकों की छोटी-सी टोली अँधेरे में टटोल रही है। अँधेरे में वे आपस में टकराते हैं।···

'···नहीं, नहीं !···यह अँधेरा नहीं रहेगा। मानवता के पुजारियों की सम्मिलित वाणी गूँजती है—पवित्र वाणी !···उन्हें प्रकाश मिल गया है। तेजोमय !! क्षत-विक्षत पृथ्वी के घाव पर कोई शीतल चंदन लेप रहा है।··· प्रेम और अहिंसा की साधना सफल हो चुकी है !···फिर कैसा भय !···विधाता की सृष्टि में मानव ही सबसे बढ़ कर शक्तिशाली है ! उसको जय करना असंभव है—प्रचंड शक्तिशाली बमों से भी नहीं ।···पागलो ! आदमी-आदमी है, 'गिनीपिग' नहीं।···सबारि अपर मानुस सत्य···।' *

ऐसा डाक्टर सोचता है, जिसके संबंध में ममता मानो लेखक के भाव ही प्रगट करती है।'···तुमने कम-से-कम मिट्टी को तो पहचाना है।···मिट्टी और मनुष्य से मुहब्बत ! छोटी बात नहीं।' †

और हम सोचते हैं कि इस डाक्टर को लेखक ने अपने हृदय के रक्त से गढ़ा है। डाक्टर ही शायद लेखक की अपनी भावनाओं का सबसे अधिक प्रतिनिधित्व करता है। 'मिट्टी और मनुष्य से' लेखक का गहरा प्रेम इस उपन्यास में व्यक्त हुआ है। यह कोई 'छोटी बात नहीं।'

अन्त में एक ऐतिहासिक भूल की ओर भी ध्यान दिला दें। पृष्ठ ३०१ के अनुसार स्वतंत्रता के बाद गाँधी जी 'नूवाँखाली' गए हैं। नोआखाली की यात्रा, स्वतंत्रता के पूर्व जब केन्द्र में कांग्रेस और मुसलिम लीग की संयुक्त सरकार थी, उस समय हुई थी। स्वाधीनता के बाद तूफ़ान पंजाब में उठा था और उसे शान्त करने के हेतु गान्धी जी दिल्ली आए थे।

अपने प्राक्कथन में रेणु नम्रतापूर्वक लिखते हैः—कथा की सारी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ साहित्य की दहलेज़ पर आ खड़ा हुआ हूँ—पता नहीं अच्छा किया या बुरा। जो भी हो निष्ठा में कमी महसूस नहीं करता।'

पाठक कह सकता है, अब आप देहलीज़ पर नहीं, साहित्य के प्रांगण में पैठ चुके हैं। और यहाँ आपका स्वागत है। कथा में भी वह अच्छाइयाँ ही अच्छाइयाँ देखता है, सिवा दो-एक बातों के। सो साहित्य में मतभेद सदा रहेंगे और स्वाभाविक हैं।

---

* पृष्ठ ४०७—८। † पृष्ठ ४०२।

२१

'बीज'

'बीज' श्री अमृतराय का सर्वप्रथम उपन्यास है, जो उन्हें अनायास ही हिन्दी के जीवित उपन्यासकारों की पहली पाँत में लाकर खड़ा कर देता है। पिछले वर्ष हिन्दी में जो भी उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, उनमें यह चोटी की रचना निस्संदेह है। साथ ही स्वस्थ, सजीव, प्रगतिशील उपन्यासकला का भी जीता-जागता उदाहरण 'बीज' है। 'बीज' श्री अमृतराय की लेखन-कला में गुणात्मक परिवर्तन की सूचना देता है।

'बीज' में लेखक ने अपने विचार-दर्शन का जीवन-अनुभव से गहरा सामंजस्य दिखाया है। पिछले अनेक प्रगतिशील उपन्यास अपने विचार-दर्शन को खोल की तरह कथा के चतुर्दिक रखते थे; कथा और सिद्धान्त का अंतरंग सम्बन्ध कम हो पाता था। विशेष रूप से यौन-संबन्धों की व्याख्या में उनके पैर बुरी तरह फिसल जाते थे। शरीर की भूख, अतृप्ति और वासना को आर्थिक विश्लेषण की अपेक्षा वे अधिक महत्व दे जाते थे। स्त्री और पुरुष के परस्पर संबंधों की स्वस्थ संयत और विशद व्याख्या 'बीज' के लेखक ने की है। प्रगतिशील दृष्टि से यौन-संबन्धों का क्या आधार हो सकता है, इसकी प्रथम बार वैज्ञानिक विवेचना हमें हिन्दी उपन्यास के इतिहास में अब मिलती है।

'बीज' में लेखक ने मध्यम वर्ग के जीवन का चित्रण किया है। उसका कैन्वैस विशाल है। युद्ध, सन् ४२ का आन्दोलन, सोवियत फिल्म और कला-प्रदर्शिनी, बंगाल का अकाल, आजाद हिन्द फ़ौज के नेताओं पर राजद्रोह का अभियोग, विद्यार्थियों के जुलूस, कलकत्ता और बम्बई की सड़कों पर विद्रोह के प्रदर्शन, पन्द्रह अगस्त, जनता की बढ़ती हुई मुसीबतें, जन-चेतना और जन-संगठनों का उभार, कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं का जीवन और उनके नेतृत्व में चलता हुआ काम, नज़रबन्दी, मेहतरों की हड़ताल यही सब कथा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है।

लेखक की दृष्टि जनता की गरीबी, भुखमरी और मुसीबतों को देखती है। पाठकों की न्याय बुद्धि को उसकी लेखनी जगाती है। ग़रीबी-अमीरी के भेद को वह देखता है, पैसे की अनन्त भूख को देखता है। इस पृष्ठभूमि में स्त्री और पुरुष के प्रेम की कहानी, मानव सम्बन्धों की कहानी लेखक रखता है। विशेष रूप से लेखक मध्यम वर्ग के गार्हस्थ्य जीवन का मार्मिक और यथार्थ चित्रण करता है। प्रेम के स्वप्न, मुश्किलों के बावजूद विवाह, सास-बहू का संघर्ष, चूल्हे-चक्की की दासता, टूटता हुआ संयुक्त परिवार, पति-पत्नी की खटपट, आर्थिक दुश्चिन्ताओं में धुँधले होते हुए सपने; सीधी, सुस्पष्ट दृढ़ रेखाओं से यह चित्र कथाकार ने उतारे हैं। गहरे अनुभव और अन्तर्व्यथा से, संयत तर्क और स्वस्थ चिन्तन से उसने अपने चित्रों में रंग भरे हैं। सामन्ती संस्कारों पर लेखक कठोर प्रहार करता है और व्यक्ति और परिवार की कठिनाइयों का हल विकसित होती हुई सामाजिक दृष्टि में देखता है। आत्म-कथा का इंगित हमें इस उपन्यास में मिलता है, यद्यपि अनेक बार मनोदशाओं का वर्णन तूल पकड़ लेता है और कहीं-कहां लेखक भावना के अतिरेक में बहता भी प्रतीत होता है। भारतीय नारी का उत्पीड़न और शोषण इस कहानी का केन्द्र-बिन्दु है। उसी पर होते हुए अन्याय और अत्याचार पर लेखक ने उपन्यास से वज्र-कठोर प्रहार किया है। जमुना के प्रसंग में वह लिखता है :

'एक युवक और एक युवती के प्रेम के बीच यह जो गलीज़ मनहूस पैसे की दीवार खड़ी है, यह भी तो जमुना ने नहीं खड़ी की, उसकी माँ ने नहीं की! तब? और फिर यह भी तो जमुना का क़सूर नहीं था कि उसके सीने में कुछ उमंगें मचल रही थीं, कि उसके खून में किसी ने कच्चा पारा घोल दिया था, कि आदम और हव्वा, मनु और इडा के वक्त से पीढ़ी दर पीढ़ी चली आती हुई एक भूख, एक मासूम सपने की दीप्ति से उसका हृदय भी उजागर था?"

छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर उपन्यासकार ने कथानक का जाल बुना है। यह घटनाएँ छोटी होते हुये भी बहुत मर्मस्पर्शी और महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि यह जीवन की वास्तविकता को व्यक्त करती हैं, इन्हीं का नित्य-प्रति जीवन-संघर्ष में पाठक को भी सामना करना पड़ता है। नवयुवक किसी 'शो' के लिये चंदा इकट्ठा करने निकलता है। चंदा माँगने में उसे झिझक लगती है। किसी नव-युवती के प्रति उसके मन में आकर्षण बढ़ रहा है। विवाह में जात-पाँत के मसले पर दोनों परिवारों में कलह बढ़ती है। विवाह के उपरान्त सास-बहू में मन-मुटाव होता है। गृहस्थी अलग होने पर आटे-दाल का भाव मालूम पड़ता

है । साथ ही राजनीतिक और सामाजिक जीवन की हलचलें घर की दीवारों को हिला रही हैं । कोई पकड़ा जा रहा है; जेल में लाठी-चार्ज होता है; कोई क्षय-ग्रस्त होकर भुवाली में पड़ा है । यहाँ मनुष्य की पीड़ा और प्रकृति का अकथनीय सौन्दर्य आपको बेहद विचलित कर देते हैं ।

कथा की गति तरल, सहज और स्वाभाविक है । इसमें अनेक मोड़ भी हैं । जमुना घर छोड़ कर भाग गई; राज की हत्या; मेहतरों की हड़ताल । ऐसी घटनाएँ कथानक में उफ़ान और उबाल लाती हैं । कथानक का तारतम्य कहीं कहीं टूटा भी है । अनेक पात्र और घटनाएँ ऐसी हैं, जो कथानक के तार में पूर्णतया गुँथी नहीं हैं । विपिन और जमुना का प्रसंग ऐसा ही है । पथिक और यात्री मानो भटक कर पल भर के लिये उधर आ गये हों, और फिर अपने सीधे रास्ते हो लिये हों । कुछ पात्र, जैसे प्रमिला आदि उपन्यास के अन्तिम अंश में आते हैं । राजेश्वरी पहले उपन्यास की बहुत महत्वपूर्ण पात्र मालूम होती है, किन्तु धीमे-धीमे कथा के तार से अलग होती चली जाती है और गोमती तीर पर स्थित खँडहरों में अपने असहाय एकाकी जीवन का अन्त करती है । पात्रों के विचारों और मनोदशाओं के भी लेखक ने कभी-कभी आवश्यकता से अधिक लम्बे वर्णन दिए हैं ।

भाषा के प्रति अत्यधिक आकर्षण के कारण शायद ऐसा हुआ है । लेखक की भाषा बड़ी सीधी-सादी, भोली-भाली, प्राञ्जल, प्रवाहमयी है । प्रेमचन्द की परम्परा से ही निकली यह सहज सादगी-सम्पन्न भाषा है । इसमें बल, वेग, ओज, प्रौढ़ता सभी कुछ है । इसकी उपमाएँ, इसके चित्र मन को निरन्तर कचोटते हैं—जैसे 'सिर पर कोई आरा चल रहा हो ।' अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों का प्रयोग कुछ अधिक मालूम होता है । इसके कारण किसी-किसी पाठक के लिये भाषा 'अज्ञेय' हो जायगी ।

उपन्यास में दर्जनों सजीव पात्र लेखक ने गढ़े हैं । यह तो हम किसी भी प्रतिभावान उपन्यासकार से अपेक्षा रखते हैं । 'बीज' के पात्र हम-आप हैं—जीवन के साधारण, सामान्य प्राणी । हम अच्छे-भले आदमी हैं, लेकिन हममें अनेक दुर्बलताएँ हैं, इन पर विजय पाकर हम बेहतर मनुष्य बनना चाहते हैं । आग में तपकर क्रांति के पथिक मानव को फ़ौलाद बनना है । इस प्रक्रिया के बीच से वह गुजर रहा है । ऐसे हैं उपन्यास के प्रमुख पात्र, सत्य और उषा । राज पथभ्रष्ट होकर गढ़े में गिरती है । उषा सम्हल कर सत्य के संसर्ग से नवजात अरुण को पाती है । जीवन के कठोर संघर्ष और वेदना को अपना कर वह विजय के पथ पर बढ़ती है ।

अनेक पात्र पाठक के मन पर अपनी चिरस्मरणीय अमिट छाप छोड़ जाते हैं। अमूल्य, प्रफुल्ल, वीरेन्द्र, प्रमिला, राजेश्वरी। यह सभी पात्र लेखक ने निम्न मध्य वर्ग और मध्यवर्ग के जीवन से लिये हैं, जिस जीवन को वह बखूबी जानता है। उपन्यास के अन्त में उसने मेहतरों की जीवन झाँकी दी है, जो बहुत मर्म-स्पर्शी है। यह सभी अपने और समाज के घृणित, कुत्सित जीवन को बदल डालने को तीव्र आकांक्षा मन में रखते हैं और दृढ़ पगों से उसी मार्ग पर बढ़ रहे हैं।

'बीज' में जीवन के प्रति गहरी आस्था और निष्ठा है। 'बीज' का लेखक मानव-चरित्र की अनेक दुर्बलताएँ देखता हुआ भी उसकी क्षमता और सम्भावनाओं, संघर्ष में जूझने में क्रान्तिकारी परिवर्त्तनों के लाने की शक्ति को पहचानता है। मानवता में उसकी आस्था अदम्य और अडिग है। 'बीज' मानवता का जीवित चित्र है, इस मानी में कि वह आगे बढ़ती हुई मानवता का चित्र है, पीछे हटती हुई मानवता का नहीं। 'बीज' गिरते हुए और संघर्ष में पराजित मानव को सम्मान का आसन नहीं देता; वह स्वस्थ, दृढ़-चित्त, आस्थावान और आत्म-निष्ठ मानव को साहित्य में प्रतिष्ठित करता है।

उपन्यास के अन्तिम अंश में लेखक कहता है: 'तेरे इस घाव में हमारे नये जीवन के विराट अश्वत्थ का बीज छिपा हुआ है। हमारे नये सुख का बीज नये प्रभात का बीज।' यह वाक्य उपन्यास के नामकरण को भी स्पष्ट करता है। जीवन की अनन्त संभावनाओं, मानव के भावी विकास के विराट अश्वत्थ का 'बीज' हमें यहाँ मिलता है। इन सम्भावनाओं के 'बीज' को हमें पहचानना है और हृदय में उसे स्थान देना है।

श्री अमृतराय ने यह उपन्यास प्रेमचन्द जी की स्मृति को अर्पित किया है। 'बीज' इस समर्पण का अधिकारी है।

२२

प्राण-गीत

'प्राण-गीत' कवि-सम्मेलनों के सुपरिचित नवयुवक कवि 'नीरज' की रचनाओं का संग्रह है। हम इस संग्रह का खुले हृदय से स्वागत करते हैं, क्योंकि इन कविताओं में हिन्दी के एक विकासोन्मुख और प्रतिभावान कवि के अनेक गुण हम पाते हैं। 'नीरज' की कविताओं में संगीत-माधुरी है, भाव-लालित्य है और जागरूक सामाजिक चेतना है। 'नीरज' कानपुर की काव्य-परम्परा के आज प्रमुख कवि हैं, जिसने हमें 'त्रिशूल'—'सनेही' दिये और जिसमें 'शील', 'राजा', सुदर्शन चक्र और कृष्ण कुमार 'कोमल' ने नई कड़ियाँ जोड़ी हैं।

'नीरज' के स्वर में आरम्भ से ही विद्रोही हृदय की ज्वाला रही है, और मानव प्रेम उनकी कविता का केन्द्रीय विषय रहा है। इधर 'नीरज' ने तीव्रतम सामाजिक चेतना और विकसित काव्य प्रेरणा के अद्भुत गुण प्रदर्शित किये हैं। यह उनकी 'युद्ध नहीं होगा' के समान कविताओं से स्पष्ट है।

'प्राण गीत' की भूमिका के अनुसार सौंदर्य्य, प्रेम, मृत्यु इन तीन सत्यों से कवि के गीत प्रभावित हुये हैं। इनके अतिरिक्त 'रोटी' अथवा 'पेट की भूख' भी कवि की रचना का विषय रहा है। सौंदर्य के सम्बन्ध में कवि की दृष्टि विशाल और विस्तृत है : सौन्दर्य का अर्थ उसके लिये 'सन्तुलन' और 'क्रम' है। जगत के क्रम में वह सौन्दर्य देखता है और सृष्टि के आधारभूत नियमों में वह सौन्दर्य देखता है। प्रेम को कवि ने अपने गीतों का केन्द्रीय आधार बनाया है :

> **"आँधियों के नगर में बिना प्यार के**
> **दीप यह भोर तक जल सकेगा नहीं,**
> **पर जले स्नेह की लौ सदा इसलिये**
> **जिस जगह मैं बुझूँ उस जगह तुम जलो।'**

अथवा

> **"प्रेम का पंथ सूना अगर हो गया**
> **रह सकेगी बसी कौन सी फिर गली ?**

यदि खिला प्रेम का ही नहीं फूल तो
कौन है जो हंसे फिर चमन में कली ”

इसी भावना को कवि विकसित करके कहता है :

“निर्माण घृणा से नहीं, प्यार से होता है,
सुख-शान्ति खड्ग पर नहीं, फूल पर चलते हैं,
आदमी देह से नहीं, नेह से जीता है,
बम्बों से नहीं, बोल से वज्र पिघलते हैं।”

मृत्यु की प्रबल भावना अब तक ‘नीरज’ की कविताओं पर छाई रही है, किन्तु स्पष्ट ही उनकी कविता का सन्देश जीवन है, मृत्यु नहीं। ‘नीरज’ कहते हैं :—

“घूँट घूँट पी सके घृणा-समुद्र जो अतल,
बूँद बूँद सोखले सकल विषय कलुष-गरल,
अश्रु अश्रु बीन ले धरा बने सुखी सकल,
तृप्ति नहीं, चिर अतृप्त प्यास मुझे चाहिए !!”

जीवन के कटु यथार्थ को भी ‘नीरज’ का काव्य आग्रहपूर्वक अपनाता है। इसी मिट्टी का सौन्दर्य वे अपने काव्य में सजाना चाहते हैं; इसी मिट्टी से वे प्रेम करते हैं :—

“भाई यह दर्शन सन्त महन्तों का है बस
तुम दुनिया वाले हो, दुनिया से प्यार करो।
जो सत्य तुम्हारे सन्मुख भूखा नंगा है
उसके गाओ तुम गीत उसे स्वीकार करो !”

अपने समस्त जीवन-दर्शन और काव्यादर्शों को ‘नीरज’ मानो अपने संग्रह की प्रथम रुबाई में मूर्त करते हैं :—

“क्या करेगा प्यार वह भगवान को
क्या करेगा प्यार वह ईमान को
जन्म लेकर गोद में इन्सान की
प्यार कर पाया न जो इन्सान को।”

इस रुबाई में ‘नीरज’ के काव्य की संगीत माधुरी, उनकी भाषा की सरलता, उनके विचारों की उड़ान, उनकी प्रेरणा दिशा—सभी कुछ पाठक को मिल जाते हैं।

'प्राण गीत' की सबसे सबल कविता है 'अब युद्ध नहीं होगा।' इसमें पहले कवि शान्तिमय नव-निर्माणों के जीवन का वर्णन करता है, फिर तड़प कर पूछता है :

क्या इन सब पर ख़ामोशी मौत बिछा देगी,
क्या धुन्ध-धुँआ बन कर सब जग रह जायेगा ?
क्या कूकेगी कोयलिया कभी न बगिया में,
क्या पपिहा फिर न पिया को पास बुलाये गा ?
मैं सोच रहा युग जो इतिहास लिख रहा है
क्या रक्त घुलेगा उसकी सारी स्याही में ?
क्या लाशों के पहाड़ पर सूरज उतरे गा,
क्या चाँद सिसकियाँ लेगा ध्वंस तबाही में ?"

अन्त में कवि अपना विश्वास प्रगट करता है कि दानवता पर विजय मानवता की ही होगी। वह कहता है :

"जब घायल सोना लिये एशिया तड़पेगा,
तब वाल्मीकि का धैर्य न कैसे डोलेगा ?
भूखी कुरान की आयत जब दम तोड़ेगी,
तब क्या न खून फ़िरदौसी का कुछ बोलेगा ?
"सुन्दरता की जब लाश सड़ेगी सड़कों पर,
साहित्य पड़ा महलों में कैसे सोयेगा ?
जब कैद तिजोरी में रोटी हो जायेगी,
तब क्रान्ति बीज कैसे न पसीना बोयेगा ?
हंसिये की जंग छुड़ाने में रत है किसान,
है नई नोक दे रहा मजूर कुदाली को,
नभ बसा रहा है नये सितारों की बस्ती
भू लिये गोद में नये खून की लाली को
"बढ़ चुका बहुत आगे रथ अब निर्माणों का
बम्बों के दलदल से अवरुद्ध नहीं होगा।
है शान्ति शहीदों का पड़ाव हर मंजिल पर।
अब युद्ध नहीं होगा, अब युद्ध नहीं होगा।"

अन्य कविताओं में कवि एटमी डॉलर सभ्यता के प्रति अपनी घृणा प्रगट करता है, कांग्रेसी शासन के प्रति अपना असन्तोष और विद्रोह व्यक्त करता है,

और मिट्टी, पृथ्वी, प्रगति और विकास में अपनी गहरी आस्था और विश्वास को स्वर देता है। कवि लिखता है :

"तुम कफ़न चुरा कर बैठ गये जा महलों में
देखो ! गान्धी की अर्थी नंगी जाती है
इस राम राज्य के सुघर रेशमी दामन में
देखो सीता की लाज उतारी जाती है,
उस ओर श्याम की राधा वह वृन्दावन में
आलिंगन-चुम्बन बेच पेट भर पाती है।
हो सावधान ! सँभलो ओ ताज-तख्त वालो।
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है॥"

कवि धरती के प्रति अपना प्रेम इन शब्दों में प्रगट करता है:—

'यह ज्ञान तुम्हीं सोचो समझो, परखो जानो
मुझको तो इस मिट्टी का कण कण प्यारा है,
है प्यार मुझे जग से जीवन के क्षण क्षण से
तृण-तृण पर मैंने अपना नेह उतारा है !"

'नीरज' की रचनाओं में जीवन की व्यथा है और आगे बढ़ने की आकुलता है। पिछले वर्षों में उनके गीतों में निराशा की झलक थी, जीवन की क्षण भंगुरता की गहरी भावना थी, अरविन्द दर्शन के प्रति मोह भी था। किन्तु उनकी अनेक नयी कवितायें प्रगति और विकास में गहरा विश्वास प्रगट करती हैं। इससे स्पष्ट है कि विकास-क्रम की मंजिलों में वह बहुत आगे बढ़ आये हैं। स्वस्थ सामाजिक चेतना के अतिरिक्त काव्य प्रेमी को इन रचनाओं में अनमोल गहरी भावना और अनुभूति भी मिलेगी। साथ ही मधुर संगीत, निर्मल जल के समान तरल भाषा और अद्भुत शिल्प में ढली उपमायें और अपूर्व शब्द-चित्र भी मिलेंगे। स्वस्थ काव्यप्रेमी के परितोष के लिये यथेष्ट सामग्री प्रचुरता से मिलेगी।

२३

पत्थर की आँख

'पत्थर की आँख' में हिन्दी के तरुण, सुपरिचित कथाकार श्री कमल जोशी की दस कहानियां प्रस्तुत हैं। थोड़े ही समय में 'चार के चार', 'बहता तिनका' आदि उनकी रचनाएँ हमारे सामने आ चुकी हैं। श्री कमल जोशी आज हिन्दी के तेजी से बढ़ते हुए कहानीकारों में हैं!

इन कहानियों में हम जीवन की व्यथा, संघर्ष और मन पर इन सबका आघात अंकित पाते हैं। हम समझते हैं कि अमुक नारी तितली है, निर्लज्ज है, किन्तु पता चलता है कि उसने अपने पंगु पति पर अपना जीवन निछावर कर दिया है। वेश्या की लड़की गृहिणी-कल्याणी बनना चाहती है, किन्तु वह अपने अतीत से छुटकारा पाने में असमर्थ है। 'कुत्ते की तरह वह सूँघता' हर जगह उसके पीछे पहुँच जाता है। गृह-स्वामी का चश्मा टूट जाता है। घर में क्या हो रहा है, वह देख नहीं पाते। नौकर ठीक काम नहीं करता, घर में शोर-गुल है; बड़ा लड़का आफ़िस चला गया, छोटा प्रेम करने में लगा है; पुत्र-वधू प्रसव वेदना में छटपटाती है। इसी प्रकार के और भी चित्र हैं। पतिकी प्रतीक्षा में विकल रातें बिताती नारी; देश का विभाजन, भारी तूफान और मनुष्य-पुत्र के लिए आनन्द तिरस्कार और वेदना का समय। और 'पत्थर की आँख' जो नर-पशु की आँख से अधिक कोमल है।

इस प्रकार का जीवन इन कहानियों में अंकित हुआ है। इनमें 'बाहर-भीतर', 'उजाला या अँधेरा', 'चश्मा', 'इतिहास' आदि कहानियाँ विशेष सबल हैं। यह पाठक के मन में गहरी संवेदना उत्पन्न करती हैं, उसे पीड़ित करती हैं और विकल करती हैं। बड़ी सरल, स्वाभाविक शैली में यह कहानियाँ लिखी गयी हैं। सुरम्य प्रकृति के भी यहाँ मनोहारी वर्णन हैं:

'गंगा का ऐसा छायादार हवादार किनारा मुश्किल से नजर आता है। मल्लाह ने किनारे के लम्बे पेड़ से किश्ती बांध दी।

'गुलशाद के जी में जी आया। लगातार कई दिनों तक नदी पर रहने से जी घबरा गया था।'

गैस्टिन-बैस्टिन रोड की सड़ांध-भरी गली का भी यहाँ सजीव और मार्मिक वर्णन है। 'जहाँ सन्ध्या होते ही बेसुरे हारमोनियमकी आवाज, तबले की धक-धक और पायल की ध्वनि सुनाई देने लगती है। रात के डेढ़-दो बजे तक सवारियों के आवागमन से चहल-पहल रहती है।'

मध्यवर्गीय गृहस्थ जीवन का भी इन कहानियों में अंकन है :

'इनके कमरे के सामने बरामदा है बीच में चौखट।

'जिन्हों ने जीवन की बड़ी-बड़ी उँचाइयाँ पार की हैं, वे देहली की जरा सी ऊँचाई का अन्दाज न लगा सके। टकरा कर गिर पड़े...'

कलाकार अपने कमरे में टँगे आदमकद शीशे में बाहर के संसार की सब छायाएँ देखता है और अपनी कला में उन्हें उतारता है: 'मेरे शीशे में उनकी हरकतों का प्रतिबिम्ब पड़ता है और मैं लेटा हुआ चुपचाप यह देखा करता हूँ।'

श्री कमल जोशी की कला न केवल जीवन के कठोर यथार्थ को चित्रित करती है, वरन पाठक की भावनाओं को उन्नत भी बनाती है और उसे अधिक सूक्ष्मदर्शी, सामाजिक प्राणी बनने में सहायता देती है।

———

२४

कहानीकार ज्योतीन्द्रनाथ

श्री ज्योतीन्द्रनाथ के दो कहानी संग्रह हमारे सामने हैं। इन कहानियों में हमें एक प्रतिभावान और तेजी से बढ़ते हुए कलाकार का परिचय मिलता है। श्री ज्योतीन्द्रनाथ सहज, स्वाभाविक ढंग से कहानी कहते हैं। वे जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर कथानक का जाल बुनते हैं। उनकी कहानियों में रोचकता है, भाषा सरल और प्रांजल है, और कहानियाँ पाठक के मन पर चोट करती हैं। बिहार के निर्जन और उन्मुक्त प्राकृतिक स्थलों की मधुर छवि भी हमें अकसर इन कहानियों में मिलती है।

"विधाता की भूल" की भूमिका संग्रह में लेखकों ने कला के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। ये कहते हैं कि कहानियाँ उन्होंने अपने सुख के लिए लिखी हैं, किंतु इसका मतलब यह नहीं है "कि कहानियाँ बिना प्रयोजन के लिए लिखी गयीं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। आत्मकल्याण के लिए वह जो काम करता है, लोक-कल्याण से उसका विरोध नहीं होना चाहिए।"

आगे आप कहते हैं, "जिस कला का सृजन कला के लिए किया जाता है, उसमें भी ऊपर उठाने की, न कि नीचे गिराने की ताकत रहनी चाहिए। यथार्थ का चित्रण तो कलाकार को करना है ही। पर यथार्थ के चित्रण में संयत और संयमशील रहना नितान्त आवश्यक है।"

× × × ×

श्री ज्योतीन्द्रनाथ की कला में हमें एक उदात्त, संवेदनशील व्यक्तित्व की झलक मिलती है। "प्रेत की छाया" में एक प्रेत चित्रकला का सृजन करता है। हम समझते हैं कि प्रेत आदि का वर्णन कला में अवांछित है। 'क्षुधित पाषाण' में कवि गुरु ने एक वातावरण का सृजन किया था। अतीत के क्षण हमें व्यथित करते रहते हैं और हमारे मन पर कुहासे की भाँति छाये रहते हैं। इस विचार को कवि ने मूर्त रूप दिया था और अतीत की पायल किसी दूरस्थ

संगीत के समान उनकी रचनाओं में बजती हुई पाठक सुनता है। 'प्रेत की छाया' भी पाठक के मन पर गहरा प्रभाव डालती है। एक कलाकार ने अनुपम कला से एक प्रासाद सजाया; किंतु स्वामीगण नहीं चाहते कि फिर भी वह इसी प्रकार अन्य प्रासादों को अपनी कला-कृति से अलंकृत करे। कलाकार मरवा दिया जाता है। सृजन की उसकी आकांक्षा अतृप्त रह जाती है। वह प्रेत एक जीवित मानव को खोजकर उसके माध्यम से अपनी सृजन-प्रेरणा की तृप्ति करता है। कहानी गहरी संवेदना से लिखी गयी है और पाठकों को बहुत व्यथित और प्रभावित करती है।

'प्रेत की छाया' संग्रह में 'स्मृति के आँसू', 'तीस दिन' 'इलाज' और मन, का दोष' भी श्रेष्ठ रचनाएँ हैं।

दूसरे संग्रह, 'विधाता की भूल' में लेखक की कला और भी प्रौढ़ हो गयी है। छोटे-छोटे चित्रों के रूप में कलाकार भारतीय सामाजिक जीवन के अनेक व्यथा-भरे क्षणों को प्रस्तुत करता है। 'विधाता की भूल', 'सन्देह का विष', 'संस्कार', 'एक घटना', 'अपराधी' आदि कहानियाँ आधुनिक हिन्दी कहानी के ऊँचे धरातल की परिचायक हैं। इन कहानियों में से अनेक को पढ़ते समय हमें बँगला कहानी की प्रौढ़ शैली स्मरण हो आता है।

× × × ×

श्री ज्योतीन्द्रनाथ छोटी-छोटी, हल्की रेखाओं से कहानी का निर्माण करते हैं। इस प्रकार :

"आज का मौसम बहुत सुहाना था। सुबह मैं सोकर उठा, तो बाहर हल्की वर्षा हो रही थी। बाहर खुले में आकर खड़े होने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सका। फुलझड़ियों की-सी वर्षा में खड़ा रह ठण्डी-ठण्डी हवा का आनन्द लेना बहुत भला लग रहा था। यों मैं सुबह देर से सोकर उठने का आदी हूँ, और इसी कारण सुबह उठने के बाद तबीयत अलसायी रहती है।...'

श्री ज्योतीन्द्रनाथ गद्य-काव्य और रूपक की शैली में भी लघु-कथाएँ लिखते हैं : 'न्याय का एक दिन', 'वरदान' और 'आकाश भ्रमण' इस प्रकार की रचनाएँ हैं। यह पाठक पर कोई प्रभाव नहीं डालतीं। इनके निष्कर्ष भी विवादास्पद हैं। 'वरदान' में ईश्वर ने संसार को सुखी बना दिया, किन्तु इससे भारी गड़बड़ी मच गयी :

'मजदूरी में कोई आकर्षण न रह गया था, क्योंकि लोग इसकी विशेष जरूरत महसूस नहीं करते थे। पेट की समस्या थी नहीं, और अब यह बात रह

न गयी थी कि दो जून रोटी के लिए हाथ-पाँव चलाना जरूरी था। मनुष्य आलसी हो गया। और आलसी दिमाग शैतान का घर होता है, इसीलिए दंगे-फसाद बढ़ने लगे।'

अन्त में भीषण तपस्या करके ईश्वर से दूसरा वरदान माँगा जाता है, 'भगवान् जड़ी को व्यर्थ कर दुनिया के लोगों में भूल वापस कर दो'

किसी भी लेखक की कृति के पीछे कोई-न-कोई जीवनदर्शन रहता ही है। लेखक के लिए वैज्ञानिक दृष्टि विकसित करना अभीष्ट होता है। वह अपने विचारों के प्रति दृढ़ और निष्ठावान भी होगा। इसी दृष्टि से जीवन का संवेदनशील चित्रण करके वह सफल कलाकार बनता है। इसलिए यह आग्रह कि लेखक का कोई 'वाद' हो न हो, अर्थहीन-सी बात मालूम होती है।

'विधाता की भूल' के प्रकाशकीय में टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की डा० रामविलास शर्मा द्वारा की गयी आलोचना को लेकर अत्यन्त भद्दे ढङ्ग से प्रगतिशील लेखकों की 'कोल्हू के बैल' आदि शब्दों से पूजा की गयी है। इस विवाद को यदि प्रकाशक स्वतंत्र रूप से कहीं और उठाते, तो श्री ज्योतीन्द्रनाथ की कला के सम्बन्ध में बहस ठीक दिशा लेती, विशेष रूप से जब उनके अनजाने ही वह वक्तव्य पुस्तक में जोड़ा गया है।

१९५२ की साहित्यिक प्रगति

सन् १९५२ में हिन्दी साहित्य की प्रगति काफी संतोषजनक रही है। यद्यपि एक एक करके पुराने महारथी मौन होते जा रहे हैं, अथवा अपने आपको दुहरा रहे हैं, फिर भी बिचली और नई पीढ़ी के अनेक लेखक और कवि आज जागरूक हैं। सन् '५२ में नई पुस्तकों की एक बड़ी संख्या निकली है, जिसमें से अनेक बड़ी प्रतिभा का संदेश देती हैं। दिल्ली में एक नया प्रकाशक केन्द्र बन रहा है, जिसके माध्यम से हिन्दी का बहुत सा साहित्य प्रकाश में आ रहा है, फिर भी प्रकाशन की सुविधा के बिना हिन्दी के बहुत से श्रेष्ठ ग्रंथ आज भी पाठक के सामने नहीं आ पाते।

एक दृष्टि से हम आज के हिन्दी साहित्य में सङ्कट के अनेक लक्षण देखते हैं, हिन्दी उपन्यास, कविता, नाटक, आलोचना और साहित्य के अन्य रूपों में हम महत् कार्य कम देख पाते हैं, किंतु परिमाण में बहुत सा साहित्य हमारे सामने आया है, और इसकी सम्भावनाएँ बहुत आशाप्रद हैं। हिंदी में आज सबसे असन्तोषजनक स्थिति नाटक के क्षेत्र में है, किंतु इस सम्बन्ध में सर्व श्री 'अश्क' जगदीशचन्द्र माथुर और यशपाल के प्रयोगों ने स्थिति को काफी सुधारा है। कविता के क्षेत्र में अनेक नई शक्तियाँ उठ रही हैं। उपन्यास, कथासाहित्य और आलोचना में स्थिति अपेक्षाकृत अधिक सन्तोषप्रद है। इन्हीं विषयों पर हिन्दी में आजकल अनेक पुस्तकें निकल रहे हैं, जिनमें से अनेक उच्च कोटि की हैं।

हिंदी का मासिक और पाक्षिक साहित्य विचित्र डावाँडोल हालत में है। पुरानी और प्रतिष्ठित पत्रिकाएँ आर्थिक सङ्कट का शिकार हो जाती हैं, विशेषरूप से यदि उनके पीछे किसी बड़े धन का सहारा नहीं है। फिर भी नित्य नवीन पत्र पत्रिकाएँ निकलते रहते हैं, और मानो कुछ समय के लिये वायु को अपने सौरभ से व्याप्त करके फिर सदा के लिये अदृश्य हो जाते हैं। कहानियों की पत्रिकाएँ

आज कल बहुत लोक प्रिय हैं, किन्तु यह साहित्यिकता के प्रति उदासीन हैं। इनकी लोकप्रियता सिनेमा के सस्ते चल चित्रों के समान अधिक है।

इस दिशा में सबसे आकर्षक प्रयास 'आलोचना' नाम की त्रैमासिक पत्रिका है। पिछले वर्ष इस पत्रिका के गंभीर आलोचनात्मक सामग्री से भरपूर चार अङ्क निकले। नये वर्ष का स्वागत इस पत्रिका ने 'इतिहास अङ्क' के विशेष प्रयास द्वारा किया है। हिन्दी आलोचना को इस पत्रिका से नई शक्ति और प्रेरणा मिलेगी, यह निर्विवाद है।

पल भर के लिये हम इस वर्ष के साहित्यिक उत्पादन पर एक विहंगम दृष्टि डालें, इस प्रकार हम अधिक विस्तार से देख सकते हैं कि हिन्दी साहित्य की गति विधि आज क्या है।

उपन्यास साहित्य में इस वर्ष श्री इलाचन्द्र जोशी की दो रचनाएँ एक साथ हमारे सामने आती हैं, एक 'मुक्तिपथ', दूसरा 'सुबह के भूले।' जोशी जी जिस प्रवाह और गति से साहित्य रचना में लगे हैं वह शुभ है। इन उपन्यासों के साथ जोशी जी अपनी साहित्यिक यात्रा में एक नई मंजिल तक पहुँचते हैं। इन कथाओं में जोशी जी का जीवन दर्शन स्वस्थ, सामाजिक जीवन दर्शन है। 'मुक्तिपथ' में नारी अपनी आर्थिक और सामाजिक बड़ियों को तोड़ कर स्वतंत्र और उन्नत जीवन की ओर बढ़ती है। इसी प्रकार मानव अपनी मानसिक ग्रंथियों को खोल सकता है, और व्यक्तिगत तथा समाजगत स्वास्थ्य लाभ कर सकता है।

'अश्क' का नया उपन्यास 'गर्म राख' इस वर्ष के उपन्यासों में महत्वपूर्ण है। 'अश्क' स्वीकार करते हैं कि 'गर्म राख' में वह 'गिरती दीवारें' से बहुत आगे बढ़ सके हैं। 'गिरती दीवारें' निम्न मध्यवर्ग की असफलताओं और निराशाओं की, उसकी कुण्ठाओं की कहानी थी। एक आलोचक ने इसकी तुलना 'दीवार पर चलती चींटी' से की थी। 'अश्क' को सम्पूर्ण दीवार का ऐहसास तो था, लेकिन मानो अपनी कला का ध्येय उन्होंने यही बनाया था कि जितना कुछ कुंठित निम्न मध्य वर्ग का प्राणी साधारणतया देखता है, उससे अधिक देखने की कोशिश भी वह न करे। फिर, जिस वर्जनाओं की दीवारों के रहने का स्वप्न चेतन देख रहा है, स्त्री और पुरुष के बीच इन दीवारों के गिर जाने से भी सामाजिक जीवन अधिक सुखी और समृद्ध नहीं होगा।

'गर्म राख' में 'अश्क' ने अपने सम्पूर्ण कला शिल्प को कायम रखते हुये अधिक समृद्ध दृष्टि अपनायी है। इस उपन्यास में हम सामाजिक कुरीतियाँ और कुरूपताएँ तो उनकी समस्त विषमता और भीषणता में देखते ही हैं, हम

अनेक उठते और उफनते हुये सामाजिक आन्दोलन और हलचलें भी देखते हैं, जो नये जन जीवन की सृष्टि के लिये आतुर हैं। 'अश्क' केवल राख को ही नहीं देखते, वरन् उसके अन्दर छिपी जीवित चिनगारी को भी। 'गर्म राख' इस प्रकार जीवन के व्यापक और गतिवान स्वरूप का अधिक सच्चा और समर्थ चित्र है।

इस वर्ष के अन्य उपन्यास जो ध्यान आकर्षित करते हैं, वह हैं श्री नागार्जुन का 'बलचनमाँ', रुद्र का 'बहती गंगा', जैनेन्द्र का 'सुखदा', श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'पतवार', श्री धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा।' इनके अलावा कथा साहित्य में भी श्री यशपाल के 'चित्र का शीर्षक' और 'उत्तराधिकारी' श्री भगवत शरण उपाध्याय का 'कहानी संग्रह' और श्री 'पहाड़ी' का 'तूफ़ान के बाद' महत्वपूर्ण प्रकाशन है।

'बलचनमाँ' में नागार्जुन बिहार के खेतिहर मजदूर और निम्न कोटि के किसान का संघर्षमय और त्रस्त जीवन बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत करते हैं। निर्मम, कठोर यथार्थ का प्रतिभाशाली कथाकार ने बड़ी भावुकता और सजीवता से चित्र खींचा है।

श्री रुद्र की 'बहती गंगा' बनारस के पिछले डेढ़ सौ वर्षों के जीवन की कथा उसके समग्र फक्कड़पन और अलमस्ती में प्रस्तुत करती है। उसकी भाषा में बरसाती गंगा का प्रवाह और रव है इसके पात्रों और कहानियों में भी वही अभिमान और स्वच्छंदता है। इन कहानियों में बनारस की जनता का अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध मुक्ति के संघर्ष का इतिहास चित्र बद्ध है।

'पतवार' में श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी ने आधुनिक भारत के सामाजिक-त्रास और उत्पीड़न का सजीव चित्र खींचा है।

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' वयः सन्धि पर खड़े विद्यार्थियों के हंसी मसखरेपन का उड़ता-उड़ता वर्णन है। यह नवयुवक मानों अपने व्यंग और प्रतिभा की मौलिकता से आप ही काफी प्रभावित हैं, और सोचते हैं कि ऐसा व्यंग और ऐसी प्रतिभा शायद संसार में कहीं और नहीं है। इस संग्रह में भूमिका अधिक है, और कहानी कम। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' हमें 'आइकेरस' का स्मरण दिलाता है, जिसने अपनी शक्ति से ऊपर उड़ने का प्रयास किया था।

'दो दुनियाँ' श्री भगवत शरण उपाध्याय के व्यंगात्मक स्केचों का संग्रह है, इनमें बड़ा वेग, ओज और बल है। 'जान बूझ हँसता है' शीर्षक स्केच में

लेखक आज के साम्राज्यवादी कुचक्रों और युद्धों की विभीषिका पर कठोर व्यंग प्रहार करता है।

इसी प्रकार 'पहाड़ी' 'तूफ़ान के बाद' नाम के नये कहानी संग्रह में पहाड़ के जीवन के अभिशापों, विशेष रूप से युद्ध से उत्पन्न विषम परिस्थितियों का मर्म-स्पर्शी चित्रण करते हैं।

पिछले वर्ष अनेक नये काव्य संग्रह निकले। इनमें संख्या में सबसे अधिक 'दिनकर' के हैं। 'कुरुक्षेत्र' के बाद 'दिनकर' प्रबंध काव्य अधिक लिख रहे हैं। इनमें प्रवाह और ओज हैं, और अनेक स्थल गहरी भावना और अनुभूति से रंजित हैं। पं०सुमित्रानन्दन का 'रजत शिखर' उनके रेडियो रूपकों का संग्रह है। इनमें गीत का गुण है, लेकिन कथानक और सम्वाद में प्रवाह का जो गुण अपेक्षित है, उसकी इन रूपकों में कमी अनुभव होती है। श्री नरेन्द्र का एक नया कविता संग्रह 'कदली वन' भी इस वर्ष निकला है। इन कविताओं में संगीत है, मानसिक जिज्ञासा है, अनुभूति है, लेकिन अपनी काव्य यात्रा में कवि के किसी नई मंजिल तक पहुँचने का निर्देश नहीं है।

हिन्दी काव्य में आज 'सुमन' विशेष विकासशील मालूम हो रहे हैं। वह अपनी काव्य प्रेरणा को निरन्तर नए स्तर पर उठाने के लिये यत्नशील हैं। अपनी लम्बी कविता 'दीपावली' में 'सुमन' ने जो नए अंश जोड़े हैं, उनमें सबल उपमाएँ हैं, भाषा की प्रौढ़ता है, और सांचों में ढली रूप माधुरी है। 'सुमन' के जो फुटकर छन्द देख पड़ते हैं, वह भी उनकी प्रतिभा में नए विकास के द्योतक हैं।

'सुमन' के अतिरिक्त और भी अनेक बिचली पीढ़ी के कवि बड़ी प्रेरणा और शक्ति से लिख रहे हैं। इनमें से कुछ 'दूसरा सप्तक' द्वारा प्रकाश में आए, लेकिन इनके अतिरिक्त नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन, महेन्द्र भटनागर, शील, शम्भू नाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह आदि और भी अनेक कवि हैं, जो पिछले वर्ष अच्छी काव्य रचना करते रहे हैं।

इस वर्ष हिन्दी के पुराने कवि, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के दो काव्य संग्रह प्रकाशित हुये, 'अपलक' और 'रश्मि रेखा'। 'नवीन' जी के मुख से उनका कविता पाठ सुनकर जो आनन्द मिलता है, वह उनकी कविताओं के पढ़ने से नहीं मिलता उनकी भाषा काफ़ी ऊबड़ खाबड़ रहती है, 'नवीन जी' ने स्वयं स्वीकार भी किया है कि वे अपनी काव्य साधना को पर्याप्त समय देने में असमर्थ रहे हैं। इन दोनों संग्रहों की भूमिकाओं में 'नवीन' जी ने प्रगतिवाद से सम्ब-

न्वित कुछ सैद्धान्तिक प्रश्न भी बड़े ज़ोर शोर से उठाए हैं। इस लेखन में 'नवीन' जी की भाषा असंयत हो गई है, और आपके स्वर की गर्मी कभी कभी चीत्कार बन गई है। ऐसा लगता है कि यह गंभीर साहित्यिक विवेचना न होकर राजनीति में विरोधी दल को ललकार है।

कुल मिला कर हम यह कहने में असमर्थ हैं कि इस वर्ष हिन्दी कविता में संतोषप्रद प्रगति हुई।

इस वर्ष आलोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। इस कार्य में 'आलोचना' त्रैमासिक का विशिष्ट स्थान है। यह हम पहले भी कह चुके हैं।

श्री हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के तीन आलोचनात्मक ग्रन्थ इस वर्ष निकले हैं: 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'मध्य युगीन धर्म साधना', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', इन तीन पुस्तकों में द्विवेदी जी अपनी सहज, सरस और गंभीर विवेचना शैली में हिन्दी साहित्य के आदि काल, मध्य युग के सन्त कवियों और संपूर्ण इतिहास का सिंहावलोकन करते हैं।

इसी वर्ष श्री नन्द दुलारे वाजपेयी की दो पुस्तकें 'सूरदास' और 'प्रेमचन्द' प्रकाशित हुई हैं। डा. रामविलास शर्मा की पुस्तक 'प्रेमचन्द का युग' प्रकाश में आई है, और सुप्रसिद्ध विद्वान डा. वासुदेव शरण अग्रवाल की एक महत्व-पूर्ण कृति 'कला और संस्कृति' हिन्दी को एक विशिष्ट देन है।

श्री शिवदान सिंह चौहान और श्रीमती विजय चौहान की एक छोटी पुस्तक 'हिन्दी गद्य साहित्य' भी इस वर्ष निकली है। इस पुस्तक में आधुनिक हिन्दी गद्य के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डाली गई है, और उसकी विशेष व्याख्या की गई है। चौहानद्वय आधुनिक इतिहास में काल विभाजन की आलोचना करते हैं, और शुक्ल जी के पच्चीस पच्चीस वर्षों के उत्थान और भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, प्रेमचन्द युग और छायावादी युग के प्रचलित काल विभाजन को अवैज्ञानिक बताते हैं। उनके मत से यह संपूर्ण आधुनिक युग एक है, जिसमें हिन्दी साहित्य ने साम्राज्यवादी और सामन्ती दासता के विरुद्ध संघर्ष किया, और भारतीय समाज में स्वतंत्रता की शक्तियों को स्वर और बल दिया।

नाटक के क्षेत्र में इधर श्री 'अश्क' के प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण हुये हैं। आप की सबसे बड़ी देन आपके प्रवहमान कथोपकथन, सजीव चरित्र और यथार्थ-वादी दृश्य हैं। हिन्दी रंगमंच 'अश्क' के नाटकों के कारण जीवित हो उठा है और आधुनिक दृष्टि अपना सका है। 'अश्क' के कथानक चलचित्र की भांति

होते हैं, यदि इनमें वह अधिक व्यवस्था और उतार चढ़ाव ला सकें, तो उनके नाटक और भी चमक उठेंगे।

हिन्दी नाटक को सजीव और अर्थपूर्ण बनाने में श्री जगदीश चन्द्र माथुर का भी विशेष स्थान है। इसका कारण आपकी प्रतिभा और आधुनिक दृष्टि के अतिरिक्त पाश्चात्य नाट्य साहित्य से आपका गहरा परिचय भी है। 'कोणार्क' में प्राचीन इतिहास की एक घटना पर दृष्टि केन्द्रित करते हुये अपने जीवन के संघर्षों और द्वन्दों की विवेचना की थी। कुछ दिन पहले रेडियो पर प्रसारित अपने नाटक में आपने आज के नवयुवकों के सिनेमा और सस्ते फिल्मों के प्रति आकर्षण पर बहुत चुभता व्यंग किया था।

'नशे नशे की बात' शीर्षक से यशपाल जी के तीन संक्षिप्त नाटकों का एक संग्रह इसी वर्ष प्रकाशित हुआ है। इन नाटकों में यशपाल जी ने बड़ी सफलता पूर्वक रंगमंच के माध्यम को अपनाया है। आप किसी सामाजिक प्रश्न को उठाते हैं, जीते जागते पात्रों द्वारा समस्या का उद्घाटन करते हैं, और बड़े चुस्त और चुटीले व्यंग भरे वाक्यों द्वारा कथानक और पात्रों का विकास करते हैं। यदि यशपाल ने इस सफल प्रयोग को आगे बढ़ाया तो अवश्य ही हिन्दी नाटक और हिन्दी रंगमंच के लिये यह बहुत शुभ होगा।

हिन्दी साहित्य के सामने आज बड़े दायित्व हैं। इनका निर्वाह करने के लिये उसे सर्वांगीण बनना होगा। न केवल ललित साहित्य में, वरन् ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी सभी विषयों में उसे पूरा बनना होगा। तभी वह उच्चतम शिक्षा के माध्यम का कार्य सफलता पूर्वक सम्पन्न कर सकेगा।

२६

१९५३ का हिन्दी साहित्य

सन् १९५३ में हिन्दी साहित्य की प्रगति सन्तोषप्रद रही है। अनेक नयी प्रतिभाओं के प्रस्फुटन और विकास के संकेत इस बर्ष के साहित्य में हमें मिलते हैं। यह प्रगति विशेष रूप से कथा-साहित्य के क्षेत्र में सन्तोषजनक रही है। आलोचना, काव्य और नाटक के क्षेत्र में नवीन प्रतिभाएँ जागरूक हैं, किन्तु पुराने महारथियों का मौन गहरा होता जा रहा है। पत्र-पत्रिकाओं में नयी पौध के लेखन से हम अवश्य आश्वासन पाते हैं।

हम कह सकते हैं कि आज की भारतीय सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति जनता की आत्म-तुष्टि पूर्ण रूप से नहीं कर पा रही है। जो पथ स्पष्ट नहीं देख पाते, जिनकी दृष्टि के आगे धुन्ध है, वे पथ-प्रदर्शन करने में असमर्थ हैं। जो नव-निर्माण के स्वप्न देख रहे हैं और जिनके हृदय विद्रोह की ज्वाला से धधक रहे हैं उनके साहित्य में अवश्य जीवन, प्रवाह और शक्ति है।

कथा-साहित्य

उपन्यास-साहित्य पर हम एक विहंगम दृष्टि डालें। इस वर्ष के प्रकाशित उपन्यासों में प्रमुख जोशीजी का 'जिप्सी', श्री अमृत राय का 'बीज', श्री भैरव-प्रसाद गुप्त का 'गंगा मैया', डाक्टर लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और साँप' हैं। इनके अतिरिक्त सर्व श्री राजेन्द्र यादव, रामकुमार, 'रहबर', मन्मथ-नाथ गुप्त की रचनाएँ हैं, 'नागार्जुन' का नया उपन्यास 'नयी पौध' छप चुका है, उनका एक और उपन्यास 'बाबा बटेसरनाथ' भी पूरा हो चुका है।

इन रचनाओं में अनेक बहुत शक्ति-संपन्न हैं। विशेष रूप से 'बीज' को हम सन् १९५३ का अन्यतम प्रकाशन कह सकते हैं। 'बीज' के लेखक ने संकट-ग्रस्त भारत की विशाल पृष्ठभूमि में एक छोटे से परिवार की समस्याओं को देखा है। यह समस्याएँ महादारुण और गम्भीर हैं, किन्तु सभी क्षेत्रों में फूटते हुए संघर्षों से इनका सम्बन्ध भी है और उन्हीं से नाता जोड़कर इन समस्याओं का हल मिल सकता है। अनमेल विवाह का शिकार एक तरुणी हिन्दू सामन्ती

परम्परा में मुक्ति का कोई मार्ग नहीं पाती; मृत्यु ही एकमात्र त्राण का मार्ग उसके लिए खुला है। एक दूसरी तरुणी गृहत्याग कर अपने प्रेमी के साथ चल देती है। चारों ओर कुल की निन्दा होती है, किन्तु उसके विवाह का यह स्वाभाविक, सहज उपाय वैध मानने को कोई तैयार नहीं। लखनऊ और इलाहाबाद के, रानीखेत के बड़े सजीव, मार्मिक चित्र उपन्यास में लेखक ने उतारे हैं। अपने पात्रों का, घटनाओं का अन्तरंग सम्बन्ध उसने सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से जोड़ा है। अपने चतुर्दिक प्रवहमान, हिलोर मारते जीवन का व्यापक और सच्चा चित्र पाठक इस उपन्यास में पाता है। मध्यवर्गीय प्रेमसम्बन्धों का भी निश्छल और स्वस्थ वर्णन हम 'बीज' में पाते हैं। प्रगतिशील दृष्टि इन प्रश्नों की ओर क्या होनी चाहिए, इसका समुचित विवेचन इस उपन्यास में है। लेखक की भाषा बड़ी सरल, स्वाभाविक और प्रांजल है; यह प्रेमचन्द की अगली पीढ़ी की भाषा स्पष्ट ही है। कहीं-कहीं श्री अमृत राय की भाषा पद्यबद्ध और तुकों से परिपूर्ण हो गयी है, इसे विद्वद् जन गद्य की शैली में दोष मानते हैं।

'गंगा मैया' में श्री भैरवप्रसाद गुप्त ने पूर्वी जिलों के किसान-संघर्षों को कथा का केन्द्र-बिन्दु बनाया है। इस किसान-जीवन की पृष्ठभूमि में 'गंगामैया' की वेगवती धारा है; उसी के समान तूफानी वेग से किसानों के जीवन में विद्रोह फूट रहे हैं। कछार की उपजाऊ भूमि में वे धान बोते हैं। यह जमीन बेकार समझी जाती थी, क्योंकि बाढ़ आने पर नदी की धारा इसको अपने विशाल आंचल में समेट लेती थी। इसमें केवल कांस, झाऊ और सिवार के बन लहराते थे, लेकिन अब यहाँ धान की सोने की फसल लहलहा उठी है। जमींदार उसे काटना चाहते हैं, किसान उसकी रक्षा करते हैं। इसी पृष्ठभूमि में परम पवित्र मानवीय सम्बन्धों के चित्र लेखक ने उतारे हैं। अभिमानी, विद्रोही किन्तु द्रवित होकर मोम से भी कोमल यह किसान पात्र हैं। इनका सम्पर्क पाठक की उदार वृत्तियों को जगाता है और उसे समुन्नत और श्रेष्ठ मानव बनाता है।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल का उपन्यास 'बया का घोंसला और साँप' भी उत्कृष्ट रचना है। इस उपन्यास में अवध के एक गाँव का अत्यन्त काव्यपूर्ण किन्तु वास्तविक और हृदयद्रावक वर्णन है। इसके पात्र सजीव हैं और घटनाएँ कुटिल, कठोर और मन को बेध डालनेवाली। अनेक अत्याचारों से पीड़ित और त्रस्त, कुप्रथाओं, द्वेष और वैमनस्य के विष से डसा हुआ सामन्ती भारत का गाँव इस उपन्यास में जीवित हो उठा है। उसके करुण, असहाय, आर्त क्रन्दन से पाठक का हृदय दहल जाता है। इस सुन्दर और प्रभावशाली उपन्यास में भाषा की कुछ अशुद्धियाँ बुरी तरह खटकती हैं। बार बार लेखक 'पक्षी' न कह

कर 'पच्छी' कहता है। 'बया के असख्य 'घोंसले', 'रामनगर की हाल', 'राजा बाँसी की कोट थी', 'उसका सबल पृष्ठभूमि', 'उन दोनों छाया की', 'जोर का फुर्र की आवाज' आदि इस प्रकार के कुछ उदाहरण हैं। ये अशुद्धियाँ पाठ से आसानी से दूर की जा सकती है और उपन्यास के महत्व को किसी प्रकार कम नहीं करती। उपन्यास को नजर न लग जाय शायद इसका प्रतिकार लेखक ने यह सोचा हो।

'जिप्सी' में जोशी जी ने समन्वयवाद का विचार-दर्शन अपनाया है और सामाजिक विषमताओं के प्रतीकार के लिए केन्द्र खोलने और आश्रम बसाने का रास्ता सुझाया है। जोशीजी सामाजिक अन्याय और असमताओं के विरुद्ध खड़े होते हैं और उनकी दृष्टि उदार है, किन्तु बिना आमूल सामाजिक परिवर्तनों के आश्रम अथवा केन्द्र समस्याओं का कोई हल पेश नहीं कर सकते। यह दृष्टि सुधारवादी दृष्टि है।

समन्वय की खोज में जोशीजी पिछले इतिहास की ओर भी फिर से मुड़े हैं। 'मुक्ति-पथ' की स्वस्थ, सामाजिक दृष्टि का समन्वय आपने 'पर्दे की रानी' से करने का प्रयास किया है। इसे बेजोड़ और अनमेल विवाह ही कहा जा सकता है। आरम्भ से ही विलासी, सामन्ती जीवन का चित्रण जोशीजी अपने उपन्यास साहित्य में करते आ रहे हैं। वह मोह का फंदा टूट चुका है और उसकी असारता दिखाने के लिए अब जोशीजी अपनी लेखनी उठाते हैं।

'जिप्सी' में तिलस्मानी रोचकता भी कथाकार ने भरी है। इसमें 'हिप्नौटिज्म' की मोहक विद्या का वर्णन है, कथा के अनुसार एक सामान्य जिप्सी कन्या पहले ईसाई धर्म अपनाती है, फिर क्रांति का नेतृत्व करती है; अमेरिका जाकर प्लास्टिक सर्जरी से वह अपना जला चेहरा फिर से सुन्दर बनवा आती है। एक उदारमना, करुणामयी नारी अनायास और अकारण ही विलास और भोग के पीछे मतवाली होकर वेश्याओं सदृश आचरण अपनाती है। चरित्रों के यह अप्रत्याशित घूम-घुमाव कथानक से स्पष्ट नहीं होते, इनके बीज पाठक को पात्रों के स्वाभाविक विकास में नहीं मिलते। किसी फिल्मी संसार की कथा 'जिप्सी' लगने लगती है। कथा पाठक का विश्वास और समर्थन प्राप्त नहीं कर पाती।

लेखक सामाजिक क्रांति के महत्व को स्वीकार करते हुए अहिंसा के प्रति अतिशय आग्रह दिखाता है। यह उचित है, किन्तु जब वह क्रांति की शक्तियों को हिंसावादी अथवा प्रतिहिंसावादी कहता है, तो वह भूल करता है। क्रांति ही

शांति और अहिंसा की पूरक हो सकती है। पूंजीवादी व्यवस्था अब बर्बर और हिंसक पशु बन चुकी है। उसका अस्तित्व पल पल पर हिंसा को बढ़ावा देता है। युद्ध, अकाल और रोगों की जननी यह व्यवस्था है। जिन्होंने विश्वशांति आन्दोलन के समान महान् प्रयास शान्ति और अहिसा के लिए किया है उन्हें हिंसावादी कहना अथवा समझना महान् भ्रम है, साथ ही पूंजीवादी व्यवस्था जिस हिंसा को पग-पग पर बढ़ावा दे रही है, उसके प्रति अवश होकर आँख मूँद लेना भी है। हिसा शासक वर्ग करता है, जनता उस हिंसा से केवल अपनी रक्षा का उपाय करती है और रक्षा के भी साधन न्यायोचित हैं, शस्त्रसहित अथवा निरस्त्र। किस अवसर पर रक्षा का कौन-सा मार्ग जनता अपनायेगी, इसका निर्णय जनता अपने हितों और साधनों के अनुसार करेगी। अहिसा के नाम पर जनता युग युग की दासता कभी स्वीकार नहीं करेगी। हम जानते हैं कि ट्रूमन के समान साम्राज्यवादी भी आज अहिंसा की बात करते हैं, क्योंकि हिंसक साम्राज्यवादी शक्ति के सामने वे जनता को निरस्त्र करना चाहते हैं।

'जिप्सी' में हम जोशी की उदार, स्वस्थ सामाजिक दृष्टि के निरन्तर प्रमाण पाते हैं, साथ ही अपनी पुरानी अवचेतनावादी .परम्परा की ओर लौटने की आकुलता के चिन्तनीय लक्षण भी। हम आशा करते हैं कि अपनी साहित्य-यात्रा में जो कुछ भी अवांछित भार जोशीजी पीछे छोड़ आये हैं, उसके प्रति दया-मोह मन में वह न रहने देंगे।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि उपन्यास के क्षेत्र में सामाजिक चेतना सम्पन्न रचनाओं के लिये यह वर्ष सामान्य रहा है। कहानी के क्षेत्र में भी पिछले वर्ष की प्रगति सन्तोषप्रद रही है। अनेक उर्दू के लेखक बराबर हिंदी में अपनी कहानियाँ छपा रहे हैं, उनका हिंदी की कहानी-कला के विकास पर स्वस्थ प्रभाव पड़ रहा है। कृष्णचंद्र हिंदी के पाठकों के बहुत प्रिय लेखक बन चुके हैं। उनके अतिरिक्त ख्वाजा अहमद अब्बास, राजेन्द्र सिंह बेदी और 'नवतेज' के नाम भी विशेष उल्लेख योग्य हैं।

इधर श्री भैरवप्रसाद गुप्त बहुत ओज और शक्ति-सम्पन्न कहानियाँ लिख रहे हैं। कहानी-कला में नये लेखकों की प्रगति बहुत आशाजनक है। यह स्वाभाविक भी है कि नयी प्रतिभाओं का विकास और प्रस्फुटन गीति-काव्य और कहानी के क्षेत्र में विशेष सफल हो। अनेक नाम पत्र-पत्रिकाओं में अपनी ओर बरबस ध्यान आकर्षित करते हैं उनमें सर्वश्री कमलेश्वर, मार्कण्डेय, मेंहदी-रत्ता, मनोहर श्याम, कमल जोशी, राजेन्द्र यादव और रामकुमार विशेष उल्लेखनीय हैं।

कमलेश्वर और मार्कण्डेय मन की सूक्ष्म, मानवीय अनुभूतियों के अंकन में पटु और प्रवीण हैं। मेंहदीरत्ता व्यंग्य का आश्रय लेकर आज की सामाजिक विषमताओं का दिग्दर्शन कराते हैं। आपके कहानी संग्रह 'शिमले की क्रीम' में हम इन गुणों की अभिव्यक्ति पाते हैं। मुजीब रिजवी के संग्रह 'गंगा से गोमती तक' में हम व्यंग्य के साथ मर्मस्पर्शी अनुभूति भी पाते हैं। उनके संग्रह में कहानियों के अतिरिक्त सफल रिपोर्ताज और स्केचों के भी उत्कृष्ट प्रयोग हैं। 'चार के चार' में कुछ कहानियाँ बहुत मार्मिक हैं, किन्तु कुछ में आत्म-हत्या और यौन-सम्बन्धों के प्रति अतिशय मोह भी झलकता है।

मनोहर श्याम ऊब, घुटन, कठोर वास्तविकता और विफलता की भावनाएँ अपनी कहानियों में व्यक्त करते हैं। यह सभी नये कलाकार स्वस्थ सामाजिक दृष्टि रखते हैं और अपने लेखन में सामाजिक परिवर्तन की हलचलों को प्रतिबिम्बित करते हैं। श्री राजेन्द्र यादव की दो पुस्तकें हाल में ही निकली हैं, 'रेखाएँ लहर, परछाइयाँ' स्केच और कहानियां का संग्रह और 'प्रेत बोलते हैं' शीर्षक उपन्यास। श्री रामकुमार का संग्रह 'घर बने घर टूटे' नाम से प्रकाशित हुआ है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी भी इधर कहानियाँ और स्केच लिख रहे हैं, यह भी इस कला-रूप की बढ़ती हुई लोकप्रियता और माध्यम की दृष्टि उसकी सफलता का प्रमाण है।

कविता

कविता के क्षेत्र में भी हम नवीन प्रतिभाओं को ही अधिक मुखर पाते हैं। यह भावी साहित्यिक प्रगति के लिए अत्यन्त शुभ लक्षण है। चिरपरिचित कवि-प्रतिभाओं में पंतजी का 'शिल्पी' उल्लेख योग्य है। 'बच्चन' जी का 'सोपान' उनकी सभी प्रिय रचनाओं का सङ्कलन है। 'आधुनिक कवि' अथवा 'पल्लविनी' के समान ही इस पुस्तक को वास्तविक दृष्टि से नयी कविता-पुस्तक नहीं कहा जा सकता। 'आधुनिक कवि' के समान काव्य के लक्ष्य और वर्त्तमान परिस्थिति पर प्रकाश डालनेवाली महत्वपूर्ण भूमिका यहाँ नहीं है। 'सोपान' में बच्चन की श्रेष्ठ कविताओं का संग्रह किया गया है। इस प्रकार एक ही पुस्तक में कवि के पूर्ण कृतित्व का एक परिचय पाठक पा सकता है। 'सोपान' से यह भी स्पष्ट होता है कि कवि की प्रतिभा का पूर्ण प्रस्फुटन 'निशा-निमंत्रण और' 'एकांत संगीत' के काव्य में हुआ था। गांधीजी के निधन पर लिखी कविताओं में 'खादी के फूल' विशेष निर्बल लगते हैं।

दूसरी पीढ़ी के कवियों में जो प्रतिभाएँ विशेष जागरूक हैं, उनमें 'सुमन',

केदार और गिरिजाकुमार माथुर उल्लेखनीय हैं। 'सुमन' की प्रतिभा प्रौढ़तर हो रही है, यह उनकी 'दीपावली' आदि कविताओं से स्पष्ट है। केदार पूर्ववत् ओज और वेग से लिखते जा रहे हैं। गिरिजाकुमार माथुर ने मानवीय भावनाओं में पगे बड़े सुमधुर गीत लिखे हैं, जिनमें उनकी तेतीसवीं वर्षगाँठ पर लिखा गीत विशेष महत्वपूर्ण है।

इसी वर्ष 'नागार्जुन' का एक नया काव्यसंग्रह 'युगधारा' प्रकाशित हुआ है। इसमें कवि की अनेक सुपरिचित रचनाएँ हैं, जैसे टैगोर के प्रति उनकी श्रद्धांजलि। इस संग्रह की अनेक कविताएँ साहित्य की परम्परागत शैली में लिखी गयी हैं और मोहक संस्कृत पदावली से अलंकृत हैं। ये कविताएँ नागार्जुन की श्रेष्ठ रचनाओं में हैं। साथ ही जन-गीतों की परम्परा से सम्बद्ध भी कुछ रचनाएँ इस संग्रह में हैं। इनमें कवि ने आज की सामाजिक और राजनीतिक विषमताओं पर कठोर व्यंग्य प्रहार किया है।

'अश्क' की भी एक लम्बी कविता 'चाँदनी रात और अजगर' इस वर्ष प्रकाशित हुई है। 'अश्क' साहित्य के सभी रूपों में अपनी प्रतिभा प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर रहे हैं। नाटक के क्षेत्र में तो उनकी देन अतुलनीय है ही, उपन्यास और काव्य रूपों को भी वे समृद्ध कर रहे हैं। चाँदनी रात और अजगर का आरंभ कवि शांत, शुभ्र चाँदनी के वातावरण में करता है। आगे चलकर वह जीवन के दुःसह पीड़ा भार का वर्णन करता है। भावी जग का स्वप्न भी वह देखता है, जब सभी अभाव मिट जायँगे। 'दीप जलेगा', 'बरगद की बेटी' और 'चाँदनी रात और अजगर'—कवि की प्रतिभा का यह सहज और स्वाभाविक विकासक्रम है।

'शील' का 'उदय-पथ' और महेन्द्र भटनागर का 'बदलता युग' भी इस वर्ष की महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। 'शील' हिंदी के विख्यात प्रगतिशील कवि हैं। 'उदय-पथ' में उनकी अनेक सुपरिचित और सुप्रसिद्ध रचनाएँ संगृहीत हैं, जैसे 'देश हमारा धरती अपनी', 'गीतों की धरती पर नाचो', 'रोग-ग्रसित बरगद के नीचे, क्रूर बधिक सामन्ती प्रहरी' आदि।

श्री महेन्द्र भटनागर का नया कविता-संग्रह 'बदलता युग' उनकी स्वस्थ प्रगति और विकास का परिचायक है। यह उनका तीसरा काव्य-संग्रह है। इन गीतों में आपकी स्वस्थ जनवादी प्रेरणा प्रस्फुटित हुई है। 'टूटती श्रृङ्खलाएँ' और 'बदलता युग' के कवि से हमें विश्वास मिलता है कि हिंदी काव्य के युवा प्राण सही दिशा में उन्मुख हैं।

हिंदी कविता में आज जो युवा प्रतिभाएँ विशेष मुखर हैं, उनमें नरेश मेहता, नीरज, ठाकुरप्रसाद सिंह, केदारनाथ सिंह, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, मार्कण्डेय, दुष्यन्तकुमार 'परदेशी', ओंकारनाथ श्रीवास्तव और अजितकुमार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। नरेश मेहता और 'नीरज' ने सामाजिक क्रांति की शक्तियों को अपने काव्य का विषय बनाकर अपनी प्रतिभा का अपूर्व प्रस्फुटन किया है। ठाकुरप्रसाद सिंह संथाली गीतों की अनन्य माधुरी और व्यथा हिंदी काव्य में उड़ेल रहे हैं। श्रीशम्भुनाथ सिंह हिंदी के सुपरिचित गीतकार हैं और अपनी प्रेरणा का यथाक्रम निर्वाह कर रहे हैं। श्री गिरिधर गोपाल ने भी अनेक अच्छे गीत लिखे हैं।

केदारनाथ सिंह, मार्कण्डेय, दुष्यन्तकुमार, ओंकारनाथ श्रीवास्तव और अजितकुमार हिंदी काव्य की नवीनतम प्रतिभाएँ हैं। इनकी रचनाएँ पत्रों में निरंतर दिखाई पड़ती हैं और इनसे भविष्य के लिए आशाएँ हो सकती हैं।

और भी अनेक प्रतिभाएँ हिन्दी काव्य के क्षेत्र में फल-फूल रही हैं। इनकी पूर्ण सन्तोषप्रद तालिका बनाना असम्भवप्राय है। श्री धर्मवीर भारती और सर्वेश्वरदयाल की प्रतिभा निर्विवाद है। ये कवि प्रयोगवादी धारा से सम्बन्धित हैं और चित्रात्मक, प्रतीकात्मक शैली अपनाते हैं। हमारे विचार से इन कवियों ने अपनी प्रेरणा के पंख स्वयं ही बाँध रखे हैं, जिसके कारण एक भारी कुंठा और अवसाद का अनुभव पाठक को इनकी रचनाओं में होता है। उदाहरण के लिए श्री भारती की कविता 'मैं रथ का टूटा पहिया हूँ' लीजिये। कवि अपने को 'टूटा पहिया' कहता है। वह अपने को अभिमन्यु समझता है, जो अनेक महारथियों द्वारा घिर गया है किन्तु लड़ता जा रहा है। इसी प्रकार श्री सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता 'पोस्टर' अनेक उपमाओं और शब्द-चित्रों से अलंकृत होकर भी पोस्टर मात्र रह गयी है।

आलोचना

आलोचना के क्षेत्र में इस वर्ष के प्रकाशित ग्रन्थों में डाक्टर एस० पी० खत्री के 'आलोचना, इतिहास तथा सिद्धांत' का स्थान महत्वपूर्ण है। यह ग्रंथ हमें आलोचना-शास्त्र के सिद्धान्तों और इतिहास से परिचित कराता है। इसमें पूर्व और पश्चिम, दोनों के ही आलोचना सिद्धांतों का सम्मिश्रण है। पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र को लेखक ने अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया है, जो आधुनिक युग के साहित्य को ध्यान में रखते हुए स्वाभाविक है। यह ग्रंथ हिन्दी के आलोचना-साहित्य में एक बड़े अभाव की पूर्ति करेगा। अनन्य अध्यवसाय और

पांडित्य से लेखक ने यह ग्रंथ लिखा है और आलोचना-सम्बन्धी अनेक समस्याओं की विशद और सर्वांगीण व्याख्या की है।

नये आलोचना-ग्रन्थों में डाक्टर रामविलास शर्मा की रचनाएँ 'प्रेमचन्द और उनका युग' और 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' हैं। इन पंक्तियों के लेखक की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा' अभी हाल में छपी है। इस पुस्तक में हिन्दी साहित्य के इतिहास को एक नयी दृष्टि से आँकने और उसके जनवादी तत्वों के विश्लेषण का प्रयास किया गया है। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी इसी वर्ष प्रकाश में आया है। यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उपादेय सिद्ध होगी। इस वर्ष के आलोचना-साहित्य-मन्त्री माचवे की पुस्तक 'समीक्षा की समीक्षा' भी उल्लेखनीय है।

आलोचना के क्षेत्र में भी अनेक नयी प्रतिभाएँ फल फूल रही हैं। इनकी अभिव्यक्ति पत्र-पत्रिकाओं में हो रही है। राजकमल प्रकाशन के तीन निबन्ध-संग्रह इधर निकले हैं—'हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ', 'हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ' और 'हिन्दी के गौरव ग्रंथ।' इनमें हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंगों पर विद्वान् आलोचकों ने प्रकाश डाला है। श्री नामवर सिंह का 'प्रयोगवाद' शीर्षक निबन्ध बहुत ही प्रभावशाली है। निबन्ध के अन्त में लेखक प्रयोगवादी शैली में ही प्रयोगवाद पर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करता है—

'प्रयोगवाद त्रिशंकु ! प्रयोगवाद नदी का द्वीप ! प्रयोगवाद साँप !
महत्वाकांक्षी ! अस्तित्ववादी ! मोहक !
दयनीय ! निरीह ! वेध्य !'

'प्रगतिवाद' पर श्रीमती विजय चौहान का निबन्ध बहुत अपूर्ण है। 'हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ' शीर्षक पुस्तक में 'प्रगतिवाद' पर कहने को बहुत कुछ हो हो सकता है। पन्तजी की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या', नरेन्द्र शर्मा का 'सुमर', 'नागार्जुन' और केदार के अनेक काव्य-संग्रह के अतिरिक्त 'सप्तकों' तक में प्रगतिशील कवियों की वाणी, अन्यान्य कवियों पर इस धारा का प्रभाव 'निष्पक्ष वैज्ञानिक आलोचना' के लिए यहाँ अध्ययन और विवेचन के लिए पर्याप्त सामग्री है। डाक्टर रघुवंश की भूमिका में अनेक सैद्धान्तिक स्थापनाओं के सही होने पर भी इस विवेचना की कमी प्रत्यक्ष है। 'हिन्दी के गौरव ग्रन्थ' की भूमिका में डाक्टर ब्रजेश्वर वर्मा ने इन 'गौरव' ग्रन्थों को एक सूत्र में बाँधने के बजाय संग्रह के निबन्धकारों से अपना मतभेद ही प्रकट किया है और उनकी दृष्टि से अपनी असहमति अकसर व्यक्त की है।

विविध साहित्य

विविध साहित्य में कुछ यात्रा पुस्तकें उल्लेख योग्य हैं। 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' श्री यशपाल की सोवियट यात्रा का वर्णन है। इसमें सोवियट भूमि की समृद्धि की तुलना पाश्चात्य देशों की वर्तमान दयनीय हालत से की गयी है। 'चीन के पत्रों' में श्रीभगवतशरण उपाध्याय के चीन यात्रा के अनुभवों का वर्णन है। 'अरे यायावर, रहेगा याद?' में श्री अज्ञेय के भारतीय-यात्रा अनुभवों के स्केच हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि सन् ५३ में हिन्दी साहित्य की प्रगति सन्तोषप्रद रही है। विशेष हर्ष और आश्वासन की बात यह है कि इस वर्ष के साहित्य में हम अनेक तरुण और नवीन प्रतिभाओं को साहित्य के सभी क्षेत्रों में वेग से उठते हुए देखते हैं।

२७

कवितायें १९५४

प्रस्तुत पुस्तक में सन् १९५४ की अनेक श्रेष्ठ कविताएँ संग्रहीत हैं। इन्हें पढ़ कर पाठक हिन्दी कविता की एक झलक अच्छी तरह पा सकता है। संकलन में हिन्दी की सभी पीढ़ियों और प्रवृत्तियों को स्थान मिला है; यह संपादकों की व्यापक और उदार दृष्टि का परिचायक है। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र, रामविलास शर्मा, नागार्जुन और बालकृष्णराव तथा नयी पीढ़ी के प्रतिभावान कवि इस पुस्तक में एक साथ स्थान पा सके हैं। यह संकलन ऐसे ही अन्य वार्षिक संग्रहों का शुभ संदेश है, ऐसी आशा हम कर सकते हैं। इधर कविताओं और कहानियों के अनेक प्रतिनिधि संग्रह निकले हैं, जिनमें हिन्दी साहित्य के इन रूपों की समृद्धि का परिचय हम पाते हैं। 'कहानी' मासिक के विशेषांक इस दिशा में प्रशंसनीय कदम रहे हैं। कविता के क्षेत्र में 'काव्यधारा' इसी प्रकार का प्रयास है।

१९५४ की कविताओं में वर्णमाला के अनुसार कवियों की रचनाएँ दी गई हैं। इस प्रकार छोटे-बड़े का विवाद बचाया गया है। इस संग्रह की रचनाओं में हिन्दी कविता की शक्ति और उसका सबल, तेजस्वी स्वर हम सुन सकते हैं। विशेष आशा का लक्षण नए कवियों की प्रतिभा है। इनकी रचनाओं में संगीत, उल्लास, चित्रात्मकता और स्वस्थ सामाजिक दृष्टि है। नए कवियों में अनेक अभी विद्यार्थीपन की मंजिल से निकले हैं। इनके स्वर का ओज भविष्य के लिए बड़ी आशा हमें देता है। उदाहरणस्वरूप अजीतकुमार, ओंकार श्रीवास्तव, मार्कण्डेय, रामदरश मिश्र, मनोहर श्याम जोशी अथवा केदारनाथ सिंह की रचनाओं को लिया जा सकता है। ओंकार की कविता 'गोताखोर' इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में से एक है। जीवन के सागर में डूबकर सत्य का मोती खोज लाने को कवि आतुर है :

अतल अवगाहने दो
इस अथाह जल को

मुझे थाहने दो
डोरियों को ढीली
और ढीली
तुम किये चलो
जान-बूझकर नीचे गिरा चला जा रहा हूँ
सम्बल तुम दिये चलो···"

मनोहर श्याम जोशी मुक्तक छंदों में 'उद्‌जन-बम के युग' की विभीषिका का सजीव वर्णन करते हैं :

'लो' ! अब विराट घृणाके कुंचित ललाटका धीरज छूटता है !
लो अब उदजन के परम कणका सूर्य-सा शक्ति-स्रोत फूटता है।
हो सावधान !
ओ आधे भगवान : इंसान !

अब दूर कहीं बहुत-बहुत -बहुत दूर
शुरू होती है वह अनन्त विध्वंस-प्रक्रिया लड़ी
जिसमें न रह पायेगी यह अर्ध-चेतना की मीनार खड़ी,
जिसमें हो जायेंगे ये सबके सब कांचके सपने चकनाचूर।

अजीतकुमार की कविता 'संक्रमण' इस युग के युवाहृदय के संघर्षों और आशा-आकांक्षाओं को व्यक्त करती है। भाषा और संगीत के सुघड़ साँचों में कवि ने अपनी वाणी को ढाला है।

"वह ठहरी-ठहरी वय !
निर्मम जड़ता की जय !
बहरी स्थिरता का भय !
लहरों–काँटों–चहारदीवारों :
अवरोधों, कुँठा सीमा भारों :
का दुर्जय घेरा था।
यह था : जो मेरा था।
इसीलिए घेरा, तोड़ा मैंने,
जो 'मेरा' था : वह छोड़ा मैंने।
नयी, धवल गात रात,
नवल ज्योति-स्नात प्रात,

जाग्रत जीवन, कलरव,
नये जगत, नये अनुभव,
भिन्न दृश्य, पथ, चित्रों,
स्नेही-निश्छल मित्रों
के लिए प्रतीक्षा की।
इनसे फिर दीक्षा ली।

केदारनाथ सिंह के गीतों में गाँव की मिट्टी की महक और ताज़गी सदा मिलती है। उनकी तरुण आत्मा गाँव के सौरभ और श्री में डूब कर विभोर हो उठी है:

"पकते धानों से महकी मिट्टी
फसलों के वर पहली थाप पड़ी,
शरद के निढाल काँपते जल पर—
हेमन्ती रातों की भाप पड़ी···"

हिन्दी कविता में यह स्वर आगे चल कर और भी प्रौढ़ और सबल होंगे। इनकी विविधता, मांसलता और स्वस्थ सामाजिकता अनायास ही मन को आकर्षित करती है। इस संकलन में अनेक नये कवियों को प्रथम बार प्रकाश में आने का अवसर मिला है; इनका स्वागत और आह्वान होना चाहिए।

पुराने कवियों की रचनाएँ भी उनको प्रौढ़, स्वस्थ प्रेरणा को स्वर देती हैं। पन्त जी की कविता, 'यह धरती कितना देती है' का एक अंश देखिए:

"रत्न प्रसविनी है वसुधा, अब समझ सका हूँ
इसमें सच्ची समता के दाने बोने हैं,
इसमें जन की क्षमता के दाने बोने हैं
इसमें मानव ममता के दाने बोने हैं
जिससे उगल सके फिर धूल सुनहली फ़सलें
मानवता की—जीवन श्री से हँसें दिशाएँ···"

इसी प्रकार 'बच्चन' की कविता 'चोटी की बरफ़' मिट्टी से घुलने-मिलने का निमंत्रण देती है:

"स्फटिक निर्मल
और दर्पण-स्वच्छ
हे हिम-खण्ड शीतल औ समुज्ज्वल
अब तलक गल पिघल

नीचे को ढलक कर
तुम न मिट्टी से मिलोगे
तब तलक तुम
तृण हरित बन
व्यक्त धरती का नहीं रोमांच
हरगिज कर सकोगे;
औ न उसके हास बन
रँगीन कलियों और फूलों में खिलोगे
औ न उसकी वेदना के
अश्रु बन कर
प्रात पलकों में
पँखुरियों के पलोगे।···"

मँझली पीढ़ी के कवियों में नरेन्द्र शर्मा, रामविलास शर्मा, 'सुमन', 'अज्ञेय' नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल,शमशेर, गजानन, मुक्ति बोध, गिरजा कुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, भारत भूषण अग्रवाल, भवानी मिश्र और शील की कविताएँ हैं; इनके अतिरिक्त ख्यातनामा नवयुवक कवियों, जैसे नरेश मेहता, 'नीरज', धर्मवीर भारती आदि की रचनाएँ हैं। नरेश मेहता की कविता 'ज्वार गये जलमान गये' इस संग्रह की अन्यतम रचना है। 'नीरज' की रचना उनकी प्रसिद्ध कविता 'अणुबम के विस्फोट पर' है। 'भारती' चित्रमय भाषा में स्वप्नों की मृग-मरीचिका के पीछे भटके हैं।

इस संकलन में अनेक गीत भी उच्च कोटि के हैं। इधर 'कोकिल' जी अधिकाधिक द्रवित करनेवाले गीत लिख रही हैं। मानों अपने अहम् को वह पूर्णतया त्याग देने को अधीर हैं।

संकलन की सभी कविताएँ उत्कृष्ट हैं, या १९५४ की सभी श्रेष्ठ रचनाएँ यहाँ आ सकी हैं यह कहना कठिन है। नर्मदेश्वर उपाध्याय, वंशीधर पंडा, ठाकुर प्रसाद सिंह जैसे कवियों की कोई रचना संकलन में नहीं है। किन्तु बड़े परिश्रम और निष्ठा से संकलन का कार्य सम्पादकों ने किया है। इसी प्रकार बिखरी रत्न-राशि को एक जगह एकत्रित करके उन्होंने अपूर्व कोष हिन्दी को प्रदान किया है।

'रात बीती'

अनेक वर्ष बाद हिंदी कविता का पाठक श्री बालकृष्णराव का नया कविता-संग्रह 'रात बीती' देख रहा है, पिछला संग्रह सन् १९४७ में निकला था। हम समझते हैं कि अब निशा बीतने पर कवि का कंठ स्वर अदम्य वेग से फूटेगा। इसके अनेक संकेत हम देख रहे हैं।

श्री बालकृष्णराव 'अपनी बात' में लिखते हैं कि उन्होंने 'कविता लिखने की प्रेरणा से ही लिखी'। स्पष्ट ही कवि के नए जीवन की परिस्थितियाँ उसे कविता लिखने की निरंतर प्रेरणा देंगी। जिस वातावरण में उसने अपने जीवन के इतने वर्ष अब तक काटे थे, उसमें साहित्य-सृजन अथवा कविता लिखने की किंचित प्रेरणा भी आश्चर्यप्रद है।

इस संग्रह की कविताएँ रूप-शिल्प की दृष्टि से काफी स्वच्छ, काटी और तराशी हुई हैं। उनका प्रवाह सहज और अविरल है। कभी-कभी गीत की टेक भी उठती है, किंतु कम ही। यह मार्ग काँटों और झाड़-झंखाड़ से भरा नहीं है; इसे सभ्यता काट-छाँटकर प्रशस्त कर चुकी है। अधिकतर कविताएँ बौद्धिक हैं और भावना उनमें दबी-दबी-सी ही है। सभ्य, सुसंस्कृत मनुष्य की वाणी इन कविताओं में है, टूटे हृदय के उद्‌गार नहीं। किन्तु फिर भी एक दबी-दबी टीस मन को कचोटती रहती है; उदाहरण के लिए :

"सजा सके न नींद को अनेक यत्न स्वप्न के,
न याद युक्ति ही रही, न भूल ही भुला सका।
"न दीप-दाह के बिना प्रकाश हो सका कभी,
पता विकास का यहाँ विनाश ही बता सका।

× × × ×

"बने, मिटे अनेक बार स्वप्न एक रात में,
न चित्र की अमूर्तता प्रकाश भी छिपा सका।"

अथवा—

"दृष्टि प्यासी, नयन जलमय,
बन गया परिहास परिचय,
भावना को आज भी
अनुभाव दलता जा रहा है।"

इस संग्रह की कविताएँ 'लिरिक' की श्रेणी में आती हैं। कवि के किसी एक 'मूड' को वे व्यक्त करती हैं। अधिकतर कविताएँ बारह पंक्ति के लगभग हैं। इन कविताओं की उड़ान लम्बी नहीं, किन्तु इनमें भाव-प्रवणता है। गांधीजी के निधन पर कवि की श्रद्धांजलि इस विषय पर लिखी अनेक कविताओं में अपना अलग स्थान रखती है :

"ज्योति ने पाई अमरता, दीप ने निर्वाण।
आज पाया बिन्दु ने निज सिन्धु रूप महान।

× × × ×

"राष्ट्र के शव में किया था प्राण का संचार तुमने।
स्नायु में की थी प्रवाहित फिर रुधिर की धार तुमने।
धूलि को पदरज बना तुमने दिया सम्मान।

× × × ×

"आज हिंसा के कठिन आघात से अक्षय हुए तुम!
शरण में लेकर मरण को, आज मृत्युंजय हुए तुम!
देश के हित आज तुमने कर लिया विषपान!"

जिस बौद्धिकता का संकेत हमने ऊपर किया है, उससे कुछ कविताएँ नत-भार भी हैं। इसके उदाहरणस्वरूप 'भ्रम', 'रूप, रेखा, रंग' अथवा 'आस' शीर्षक कविताओं को लिया जा सकता है। भ्रम' की गति इस प्रकार है :—

"जानते हैं हम कि पृथ्वी घूमती है,
हर्ज क्या है पर अगर इसको भुलाकर
हम यही मानें कि सूरज ही हमारी
भूमि का चक्कर लगाता है निरन्तर!
तेज क्या रवि का घटा देगा हमारा
यह मधुर भ्रम? या धरा का तम सघनतर

भूल कर देगी हमारी ? क्या प्रकृति के
नियम निर्भर हैं हमारे मानने पर ?"

किंतु सदा ही संयम के बंधन में कवि ने अपनी प्रेरणा को इस प्रकार नहीं बाँधा है। अनेक बार गीत का निर्झर अयास ही फूटकर बहा है। कवि बादल से कहता है :

"बरसो जितना बल हो, जल हो !
है शान्त वायु का वेग आज,
पर कौन कहे कैसा कल हो !
बरसो, बरसो जितना बल हो !"

अथवा, निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

"जल उठी सारी निशा, पर मैं अकेला
एक दीपक ही जलाना चाहता था।

गीत जो पूरा प्रतिध्वनि ने किया, मैं
एक पद उसका सुनाना चाहता था।"

इन कविताओं में बहुधा अव्यक्त करुणा की अनुभूति हमें मिलती है। ऐसा भी लगता है कि इस कविता ने सभी शृङ्गार और प्रसाधन के प्रति वैराग्य लिया है। कल्पना, रूप, रंग, यौवन के प्रति मानो कवि उदासीन हो। किंतु अनेक कविताएँ मन पर यह प्रभाव भी डालती हैं कि रात बीत चुकी है, किरण फूट चुकी है, 'सहचर' मिल गए हैं। अब दृढ़ पगों से पथिक आगे बढ़ सकेगा। 'सहचर' शीर्षक कविता देखिए :

"चल रहे हो साथ, यह मैं जानता हूँ;
और यह भी मानता हूँ मैं जहाँ तक
और जब तक चल सकूँगा, तुम रहोगे
साथ ही चलते निरन्तर, मान उसको
लक्ष्य अपना, मैं हुआ जिस ओर उन्मुख,
नियति से निर्देश, सम्बल पा प्रगति से।"
"राह अनजानी, अँधेरी रात है, हम
साथ हैं फिर भी अकेले खोजना है
मार्ग अपना। पर जहाँ भी, जब कभी भी;
जिस तरह भी अन्त हो पाथेय, पथ या

शक्ति का, या पूर्ण यात्रा ही स्वयं हो,
दूर हों या पास, होंगे साथ ही हम।"

जो अन्तर्द्वन्द्व इन कविताओं में पाठक को मिलता है उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि सात वर्ष की परिधि में यह फैलीं हैं। इस संग्रह की सबसे आशाप्रद रचना पुस्तक की अन्तिम कविता है। जिस भारत की कल्पना कविमन करता है, उसे कविता में इस प्रकार अभिव्यक्ति मिली है :—

आज कण कण हैं मुकुट मणि,
आज है आदेश अनुपम।
आज सक्षम है अबलता,
मुक्त जनमत, न्याय निर्भय।
"हिम नहीं जीवन धरा का
है सुरक्षित गिरि-शिखर पर;
विन्दु का वैभव प्रवाहित
है जलधि की लहर बनकर।
"द्रवित हिम-सी अवतरित हो
आज सत्ता जन-सुलभ है;
आज नैतिक नियम बनकर
प्राकृतिक प्राचीर नभ है।......"

यदि कवि का स्वप्न आज सच नहीं है, तो विश्वास हो सकता है कि कल वह अवश्य सच होगा।

२९

भाषा की समस्या

भाषा की समस्या के तीन पहलू हमारे सामने आते हैं; १—केन्द्र में हिंदी का स्थान; २—हिंदी-उर्दू का संबंध; ३—हमारी भाषा का स्वरूप।

भाषा के प्रश्न पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना आवश्यक है, किन्तु इस विषय पर ठंडे मन से विचार-विनिमय अक्सर कठिन हो जाता है। आज धार्मिक मतभेदों की भाँति भाषागत मतभेद भी भावनाओं को उत्तेजित कर रहे हैं और साम्प्रदायिकता और अन्ध-राष्ट्रवाद को प्रश्रय दे रहे हैं।

१—हिंदी भाषा का केन्द्र में क्या स्थान हो, इस संबंध में अनेक उलझनें हैं। हिंदी को राष्ट्रभाषा कहा जाता है; कुछ लोगों की कल्पना में पूरा देश ही हिंदी बोलने लगेगा और अन्य भाषाएँ धीरे-धीरे मिट जायँगी! इस कल्पना पर शायद गंभीरता पूर्वक विचार करने की आवश्यकता नहीं है। एक विचार यह भी है कि हिंदी हमारे देश के जीवन में वही स्थान लेगी, जो कभी अँग्रेजी रखती थी। अपनी भाषाएँ लोग घरों में बोल लें, किंतु पूरे देश में न्यायालयों और विश्वविद्यालयों आदि में हिन्दी ही परस्पर संपर्क और शिक्षा का माध्यम होगी। यह विचार टंडनजी के समान सम्मेलन के प्रतिष्ठित नेताओं के भी हैं। यह स्थापना अन्य भाषा-भाषी आसानी से स्वीकार नहीं करेंगे। उन्होंने स्वप्न देखे थे कि अँग्रेजी के हटने पर देश की सभी भाषाओं को विकास का समान अवसर मिलेगा और अब वे उन सपनों को यथार्थ करना चाहते हैं। हिन्दी के प्रति उनके मन में प्रेम और सम्मान है, किन्तु वे उसे अन्तर्प्रादेशिक सम्पर्क और आदान-प्रदान की आवश्यकताओं तक ही सीमित रखना चाहते हैं।

दक्षिण में अनेक लोगों के मन में हिन्दी के प्रति संदेह और संशय है। इन भ्रमों को दूर करना आवश्यक है। हम अपने मन से कोई आदर्श हल निकालकर दुनिया में एक दम चालू नहीं कर सकते। हमें मानवी भावनाओं को भी ध्यान में रखना होगा। यहाँ आवेश और उत्तेजना से काम नहीं चल

सकता। 'अपनी भाषा को सभी जन प्यार करते हैं और उसका उच्चतम विकास चाहते हैं। साथ ही हमारे देश में एकता की जो परम्परा चिरकाल से चली आ रही है, उसके सूत्र भी दृढ़ करने होंगे। इसका उपाय यही है कि अन्य भाषा-भाषियों को अन्तर्प्रादेशिक सम्पर्क के माध्यम विकसित करने की आवश्यकता हम सुझाएँ।

सोवियत संघ में रूसी के माध्यम से यह सम्पर्क और एकता बढ़े हैं। किन्तु इन सम्बन्धों का इतिहास भी याद रखना आवश्यक है। रूसी अन्ध-राष्ट्रवादी भी कानून और सत्ता के बल से रूसी भाषा को पूरे ज़ारशाही के साम्राज्य पर लादे हुए थे और तब सैण्ट्रल एशिया आदि प्रदेशों में इसका तीव्र विरोध हो रहा था। क्रांति के बाद रूसी को राजभाषा के पद से हटा दिया गया, और जब विभिन्न जनतंत्रों ने स्वेच्छा से रूसी को अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क और आदान-प्रदान के लिए अपनाया, तभी वह सोवियत संघ में आज का महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकी।

भारतीय जनवादी आन्दोलन को भी साहस पूर्वक कहना होगा कि हिन्दी किसी भी प्रादेशिक भाषा के विकास में बाधक न होगी और उन्हें अधिकार होगा कि स्वेच्छा से वे हिन्दी को अन्तर्प्रादेशिक आदान-प्रदान के आवश्यक कार्यों के लिए अपनावें। जहाँ हमारे देश के अन्तरराष्ट्रीय संबंधों का प्रश्न है इसके लिए हिन्दी का प्रयोग तुरंत होना चाहिए और अँग्रेजी को पदच्युत करना चाहिए।

२—दूसरा प्रश्न हिन्दी और उर्दू के परस्पर संबंधों का है। हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा के दो साहित्यिक रूप हैं। हमारे प्रदेश में सब नागरिक इस एक ही भाषा को बोलते हैं, किन्तु ऐतिहासिक परिस्थितियों ने हमारी भाषा के ऊपरी स्तरों में बड़ी दरार डाल दी है। यह परिस्थिति-हमारे राष्ट्रीय जीवन पर साम्राज्य-वादी और सामंती तत्वों का गहरा प्रभाव था। इन भेदों को आज दृष्टि से ओझल करना असम्भव है, इनका निराकरण और अपनी भाषा की व्यापक एकता जनवादी पथ अपना कर ही हम दृढ़ कर सकेंगे।

हमारे प्रदेश के अनेक नागरिक उर्दू से लगाव रखते हैं। इनमें अधिकतर एक विशेष धर्म के अनुयायी हो सकते हैं, किन्तु उर्दू-प्रेमियों की संख्या एक धर्म के अनुयायियों तक ही सीमित नहीं है। उर्दू साहित्य और भाषा इसी देश की उपज हैं और भारतीय संस्कृति के बहुमुखी विकास का ही एक विशिष्ट अंग हैं। उर्दू भाषा और साहित्य के अध्ययन से हमारी संस्कृति सम्पन्न और

समृद्ध होगी, यह डा० झा के समान हिन्दी भाषा के बड़े-बड़े समर्थक भी मानते हैं। आज भी जोश, फ़िराक़ कृष्णचंद्र, अली सरदार जाफ़री, राजेन्द्रसिंह वेदी देश भक्ति की सर्वोत्तम परम्परा को अपने साहित्य में व्यक्त कर रहे हैं। अकबर, चकबस्त, मीर और गालिब की परम्परा का ही यह विकास है। इसका एक ही उदाहरण काफी है; जोश की कविता 'इस्टइण्डिया कम्पनी के फ़र्ज़न्दों से' ब्रिटिश शासन-व्यवस्था पर इतना तीव्रतम प्रहार थी कि ब्रिटिश सरकार ने उस पर रोक लगा दी थी।

हिन्दी और उर्दू का स्वाभाविक विकास एकता की दिशा में होगा। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि उर्दू-प्रेमियों को आश्वासन दिया जाय कि उनकी लिपि और भाषा का उनका प्रिय स्वरूप और साहित्य सुरक्षित रहेगा और उसके अध्ययन और सार्वजनिक कार्यों में उसके प्रयोग के लिए समुचित सुविधाएँ दी जायँगी। हिन्दी साहित्य की परीक्षाओं में उर्दू साहित्यका एक प्रश्न-पत्र रखकर और इसी प्रकार उर्दू साहित्य की परीक्षाओं में हिन्दी साहित्य को स्थान देकर भी इस एकता को दृढ़ किया जा सकता है।

एकता की यह कल्पना स्वप्न-मात्र नहीं है, इसके प्रमाण में हम यह कह सकते हैं कि सन् १९४७ में, जब प्रयाग में अखिल भारतीय हिन्दी प्रगतिशील लेखकों का सम्मेलन हुआ था, उर्दू के प्रगतिशील लेखकों ने सम्मेलन को एक पत्र लिखा था जिस पर जोश, फ़िराक, कृष्णचंद्र, अली सरदार जाफ़री आदि उर्दू के ख्यात नामा लेखकों के हस्ताक्षर थे। यह पत्र सम्मेलन में जाफ़री ने पढ़ा था और उस समय 'लीडर' आदि पत्रों में छपा भी था। इस पत्र में कहा गया था कि उर्दू के प्रगतिशील लेखक उर्दू-प्रेमियों को देवनागरी लिपि अपनाने का सुझाव देंगे, किन्तु इसके लिए अनुकूल वातावरण उर्दू साहित्य की रक्षा के लिए समुचित आश्वासनआदि देकर बनाया जाय, तभी यह प्रयास सफल हो सकता है। सम्मेलन के दौरे में ही दंगों के समाचार आने लगे थे और अलाहाबाद में भी दंगा हुआ। इसलिए आश्वासन की बात जहाँ की तहाँ रह गयी। अब यदि हिन्दी और उर्दू के लेखक मिलकर इस समस्या को सुलझाने के लिए एक संयुक्त सम्मेलन करें, तो कोई संतोषप्रद हल अवश्य मिल सकता है।

इसी बीच उर्दू को प्रादेशिक भाषा के रूप में घोषित करने का प्रयत्न अंजुमन-तरक्की उर्दू कर रही है और इसके विरोध में भी तीव्र स्वर उठ रहे हैं। प्रादेशिक भाषा के क्या माने होंगे, यह समझना जरूरी है। सामान्य नागरिक प्रादेशिक भाषा के यह अर्थ समझता है कि उत्तर प्रदेश में उर्दू को हिन्दी के

साथ समान अधिकार प्राप्त हो जायँगे। विधान के अनुसार राष्ट्रपति किसी प्रदेश में समुचित माँग होने पर विशेष प्रयोजन के लिए विधान में दी हुई सूची में से किसी एक भाषा को प्रादेशिक भाषा घोषित कर सकते हैं। इस प्रकार विशेष अधिकारों की माँग ही इस धारा के अंतर्गत आती है। प्रादेशिक भाषा की माँग के पीछे किन अधिकारों की माँग है, इसका आंदोलन के अधिकारी कार्यकर्त्ताओं द्वारा स्पष्टीकरण होना आवश्यक है। उर्दू के न्यायोचित अधिकारों की रक्षा हिन्दी के अधिकांश प्रेमी करने के लिए तैयार होंगे, यह हमारा विश्वास है।

एक अधिकारी कार्यकर्त्ता के अनुसार प्रादेशिक भाषा की माँग के पीछे निम्नलिखित तत्व हैं! (१) प्राथमिक शिक्षा के स्टेज में विद्यार्थी को उर्दू पढ़ने का हक़ हो; (२) माध्यमिक शिक्षा के स्टेज में हिन्दी सभी छात्रों के लिए अनिवार्य हो, किन्तु उर्दू पढ़नेवालों को उर्दू पढ़ने का और उर्दू के माध्यम से शिक्षा पाने का अधिकार हो और इसका उचित प्रबन्ध हो। (३) राज-कार्यों में जैसे न्यायालयों और डाकघर आदि में उर्दू में भी कार्यवाही करने का अधिकार हो।

नगर और ज़िला बोर्डों द्वारा उर्दू पढ़ाने की व्यवस्था जरूरी है, जहाँ विद्यार्थियों की संख्या इसके उपयुक्त हो। स्पष्ट ही एक-दो विद्यार्थियों के लिए खर्चा नहीं बढ़ाया जा सकेगा। यह प्राथमिक शिक्षा पहले मक़तबों में होती है, किन्तु अधिकतर मक़तब बन्द हो गये हैं और इस प्राथमिक शिक्षा का भार शासन-व्यवस्था को सम्हालना होगा। माध्यमिक शिक्षा की मंज़िल में हिन्दी अनिवार्य है और इस रूप में इसे सब उर्दू-प्रेमी स्वीकार करते हैं, किन्तु उर्दू के अध्ययन की उचित व्यवस्था भी जरूरी है।

इसी प्रकार कचहरी में उर्दू में अर्ज़ी देने का अधिकार होना चाहिए और डाकघर में उर्दू के मनीआर्डर फार्म आदि मिलने की व्यवस्था होनी चाहिए। हिन्दी का मुद्रित मनीआर्डर फ़ार्म पढ़ना या समझना आसान काम नहीं है, जैसे इण्टर बोर्ड की हिन्दी को समझना बड़े-बड़े पंडितों के लिए दुष्कर है।

इस प्रकार की माँगों को स्वीकार करने में अनेक हिन्दी-प्रेमियों को कोई कठिनाई न होगी, किन्तु अधिकारी रूप में प्रादेशिक भाषा की माँग के पीछे जिन अधिकारों को पाने की लालसा है उसका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

(३) तीसरा प्रश्न है भाषा के स्वरूप का। इसे विकृत करने का प्रयास नौकरशाही द्वारा जाने या अनजाने में हो रहा है। नया मुद्रित मनीआर्डर फ़ार्म, और इण्टर बोर्ड की शब्दावली इसके उदाहरण हैं। सरकार को चाहिए कि शब्दावली बनाने का काम प्रतिष्ठित लेखकों की समिति बनाकर उसे सौंपे। जिन

अफसरों ने जन्म भर हिन्दी नहीं सीखी, उसमें आज अनायास ही वह कैसे पटु हो सकेंगे ! उनके संस्कार हिन्दी-प्रेम के प्रतिकूल रहे हैं। और रात भर में उन्हें बदलना संभव नहीं है।

हमें अपनी भाषा का सहज-स्वाभाविक रूप विकसित करना है। भाषा को मनुष्य बोलते हैं और विकसित करते हैं। भाषा जीवन से कोष में जाती है, कोष से जीवन में नहीं। भाषा के स्वाभाविक विकास का क्रम और आगे चलकर उसके दोनों रूपों का एकीकरण इस पर भी निर्भर है कि हम जन-सुलभ भाषा का प्रयोग करें। हमारे लेखकों को सरल हिन्दी और सरल उर्दू शैली का विकास करना चाहिए। भारी-भरकम, कोषों की भाषा जनपथों पर प्रचलित नहीं हो सकती। भाषा-विज्ञान के नियम भी बताते हैं कि जो भाषा जन-संपर्क से दूर हट जाती है, वह मर जाती है। वही भाषा जीवित रहती है और विकास करती है, जो जन-संपर्क द्वारा निरंतर अपना यौवन और स्वास्थ्य नित नया करती है।